...नन्द 'विदेह'

...ख्या-ग्रन्थ

एकादश पुष्प

(यजुर्वेद के एकादश अध्याय की व्याख्या)

विषय : योग-जीवनपद्धति

एक रुपया पच्चीस पैसे

यजुर्वेद-व्याख्या

एकादश पुष्प

योग-जीवनपद्धति

विद्यानन्द 'विदेह'

प्रथम संस्करण : माघ, २०२५ वि : जनवरी, १९६९ ई
२,००० प्रतियाँ

卐

प्रकाशक : वेद-संस्थान, बाबू मोहल्ला, अजमेर ; मुद्रक : राजहंस प्रिंटर्स, अजमेर
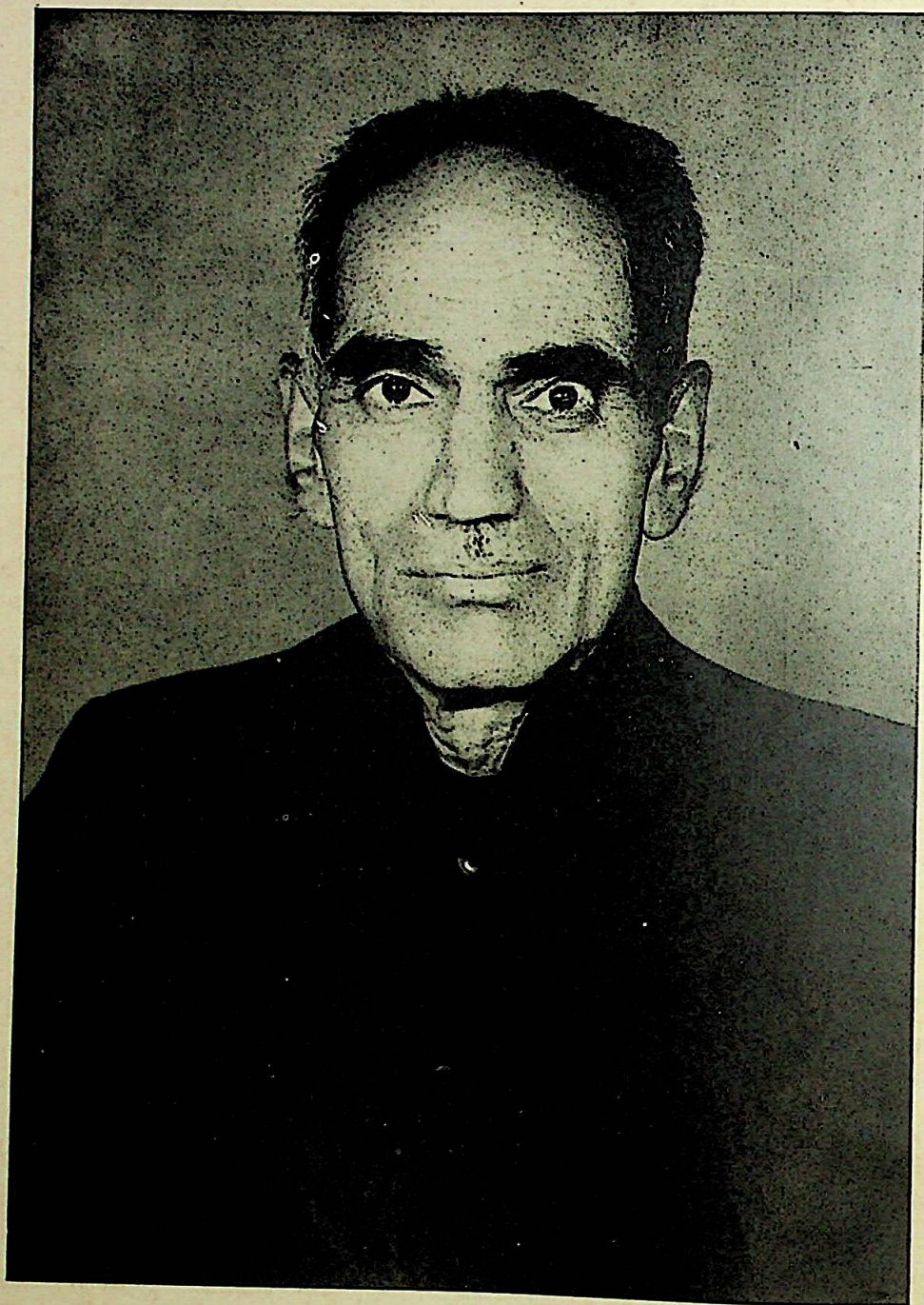
श्री गुरुचरन लाल आनन्द, (राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली,) जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में पांच सौ रुपये से सहायता की है।

यजुर्वेद-व्याख्या

ग्यारहवां अध्याय

योग-जीवनपद्धति

दसवें अध्याय में राष्ट्रनिर्माण-शास्त्र का प्रकाशन करके वेदमाता इस ग्यारहवें अध्याय में योग-जीवनपद्धति का निरूपण करती है। जीवनपद्धति किसी भी राष्ट्र के विकास या ह्रास में प्रत्यक्षतः प्रमुखतया कारणभूत होती है।

राष्ट्रीय जीवन की दो ही पद्धतियां हैं—योगपद्धति, भोगपद्धति। जीवन की योगपद्धति राष्ट्रों को सतत विकास और उत्थान के राज-मार्ग पर अग्रसर रखती है। तद्विपरीत जीवन की भोगपद्धति राष्ट्रों को ह्रासोन्मुख रखकर उन्हें अन्धकारपूर्ण विनाश के गहरे गर्त में गिराती रहती है।

अविकसित राष्ट्रों के नेताओं को अपने-अपने राष्ट्र का संविकास तथा समुत्थान अभीष्ट है तो उन्हें सर्वप्रथम स्व-स्व राष्ट्र में योग-जीवनपद्धति प्रस्थापित करनी चाहिये। एवमेव सर्वथा विकसित और समुन्नत राष्ट्रों के नेताओं को विकास और उन्नति के क्रम को अग्रसृत रखना अभीष्ट है तो उन्हें भी स्व-स्व राष्ट्र के लिये जीवन की योगपद्धति विहित करनी चाहिये।

इस सन्दर्भ में यह समझ लेना आवश्यक है कि योग प्रातः-सायं की क्रिया-विशेष का ही नाम नहीं है। योग तो जीवन की एक पद्धति का नाम है। प्रत्येक मानव अपने जीवन में या तो योगी है अथवा भोगी। जो व्यक्ति अपने चौबीसों घण्टे के जीवन में जीवन की योगपद्धति का अनुसरण करता है वह योगी है। तद्विपरीत अपने चौबीसों घण्टों के जीवन में जो व्यक्ति जीवन की भोगपद्धति का अनुसरण करता है वह भोगी है।

जिस जाति अथवा राष्ट्र के नागरिकों के जीवन की पद्धति योगपद्धति होती है, वह जाति अथवा राष्ट्र सदैव ज्येष्ठ और श्रेष्ठ बना रहता है। जिस जाति अथवा राष्ट्र के नागरिकों के जीवन की पद्धति भोगपद्धति होती है, वह जाति अथवा राष्ट्र बहुत दिनों तक खड़ा नहीं रह सकता। इसी हेतु से राष्ट्रनिर्माण-शास्त्र के उपरान्त योग-जीवनपद्धति का विधान है।

४३१ युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ य ११/१

युञ्जानः प्रथमम् मनः तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेः ज्योतिः नि-चाय्य पृथिव्याः अधि आ-अभरत् ॥

(सविता) सविता ने (तत्त्वाय) तत्त्वार्थ (प्रथमम्) प्रथम (मनः, धियः) मन और धारणाओं को (युञ्जानः) युक्त करते हुए, (अग्नेः ज्योतिः) अग्नि की ज्योति (नि-चाय्य) निश्चित रूप से प्राप्त करके (पृथिव्याः अधि) पृथिवी के ऊपर [ज्योति] (आ-अभरत्) पूर दी।

'सविता' का अर्थ है रचयिता, प्रेरक और प्रकाशक। सौर मण्डल का सविता है यह सूर्य। सृष्टि का सविता है यह ब्रह्म। मानव-जीवन का सविता है यह आत्मा। मन्त्रस्थ सविता है शरीर सम्पदा का सम्पादक, प्रेरक और प्रकाशक यह आत्मा।

तत्त्व = तत् + त्व। 'तत्' का अर्थ है वह। जो कुछ भी है, भावमात्र, सब 'तत्' है। तत् का त्व ही 'तत्त्व' है। प्रत्येक वस्तु अथवा सत्ता का अपना-अपना त्व है। गुरु का गुरुत्व, महत् का महत्त्व, ब्रह्म का ब्रह्मत्व, आत्मा का आत्मत्व, जीव का जीवत्व, प्राण का प्राणत्व, अन्न का अन्नत्व, जल का जलत्व, मम का ममत्व, राजा का राजत्व, क्षत्र का क्षत्रत्व, इत्यादि असंख्य 'त्व' हैं।

तत् के त्व की परिधि में अखिल त्व निहित है। तत् 'सत्' है। वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सत् (य ३२/८)। (गुहा निहितम्) गुहा में निहित (तत् सत्) तत् सत् को (वेनः पश्यत्) योगी ही देख पाता है।

मन्त्र में प्रयुक्त 'अग्नि' है वह ब्रह्माग्नि जिसकी ज्योति से यह सब द्योतित होरहा है।

'मन' का प्रयोग यहां अन्तःकरण के लिये हुआ है और धियः का धारणाओं अथवा वृत्तियों के लिये। मस्तिष्क के विचारों और हृदय की भावनाओं के सहप्रवाहों का ही नाम है धारणायें अथवा वृत्तियां। मस्तिष्क और हृदय के संयोग का नाम है अन्तःकरण।

आत्मा को तत्त्व के साक्षात्कार की अभिलाषा होती है तो वह सर्वप्रथम मन और धारणाओं को योगयुक्त करता है। मन और धारणाओं के योगयुक्त होने पर वह निश्चित रूप से ब्रह्म की ज्योति को प्राप्त करता है। ब्रह्म की ज्योति को प्राप्त करके वह उस ब्राह्म ज्योति का पृथिवी पर प्रसार करता है, विश्व में उस ज्योति का प्रचार और उसकी प्राप्ति के उपायों का प्रकाशन करता है। ब्रह्मज्योति की ज्योत्स्ना में वह प्रत्येक तत् के त्व [सत्य स्वरूप] का साक्षात्कार करता है। तत्त्ववेत्ता ही धर्म के मर्म को समझता है। तत्त्ववेत्ता ही कर्तव्य कर्म का धर्मपूर्वक निर्वहन करता है। तत्त्वज्ञान ही राजा और प्रजा में धर्माचरण की स्थापना करता है। धर्माचरण से पृथिवी पर सुख, शान्ति और आनन्द की व्याप्ति होती है।

सविता ने तत्त्वार्थ युक्त किया
प्रथम मन, धारणाओं को।
निश्चित ज्योति अग्नि की पाकर
उसे पूर दिया पृथिवी पर।

४३२ युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या॥ य ११/२

युक्तेन मनसा वयम् देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या॥

(सवितुः देवस्य सवे) सविता देव के समुत्पन्न संसार में (स्वर्ग्याय) स्वर्ग के लिये, स्वर्गीकरण के लिये, स्वर्गनिर्माण के लिये (वयं) हम (युक्तेन मनसा) युक्त मन से, समाहित अन्तःकरण से तथा (शक्त्या) शक्ति से [युक्त हों]।

यहां 'सविता देव' वह देवाधिदेव है जो इस सर्व का रचयिता, प्रेरक और प्रकाशक है।

'स्वः' नाम सुख, स्वस्ति और आनन्द का है। 'ग' नाम गमन—गति का है। जहां सर्वत्र सुख, स्वस्ति [सु-अस्ति, सु-अस्तित्व, सु-जीवन] तथा आनन्द के साथ जीवन का निर्वहन तथा प्रगमन होता है, उसे स्वर्ग कहते हैं। जहां दुःख, क्वस्ति [कु-अस्ति] तथा क्लेश है, वह नरक है।

देव सविता के इस पृथिविरूपी सव पर हमें स्वर्ग का निर्माण करना चाहिये, नरक का नहीं। इस पृथिवी पर निवास करनेवाले हम सब मानव इस पर स्वर्ग का निर्माण करेंगे तो हम सभी मनुष्य स्वः के भागी होंगे। यदि हम इस पर नरक का निर्माण करेंगे तो हम सभी दुःख, क्वस्ति [कु-अस्ति, कु-जीवन] तथा क्लेश को प्राप्त होंगे।

देव सविता [परमात्मा] स्वयं स्वः है, सुखस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप है। यथा कर्ता, तथा

कृति। जो स्वयं सुखस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप है, उसके द्वारा समुत्पन्न संसार में दुःख तथा क्लेश का क्या काम? उसने तो संसार में सुख और आनन्द का ही निर्माण किया है। हमने सुख को सड़ाया और सुख दुःख में परिणत होगया। हमने आनन्द को सड़ाया और आनन्द क्लेश में परिवर्तित होगया।

जिस प्रकार शुद्ध पदार्थों को सड़ाकर शराब बनाई जाती है, उसी प्रकार मानव सुख और आनन्द को सड़ाकर दुःख और क्लेश बनाते हैं। सुखमय और आनन्दमय देव सविता ने तो अपने समुत्पन्न संसार में सुख और आनन्द ही निर्मित किया है।

अपने संसार को स्वर्ग में परिणत करने और स्वर्गमय बनायेरखने के लिये तो हमें युक्त—समाहित मन और शुद्ध ब्राह्म शक्ति से संयुक्त रहना होगा। उपाय एकमात्र है, पूर्वमन्त्रानुसार, तत्त्वाय मन और धारणाओं को युक्त करके, योगयुक्त जीवन-पद्धति से सम्पन्न होकर सम्पूर्ण पृथिवी पर ब्रह्म की ब्राह्म ज्योति का प्रसार करना। अयुक्त मन और धारणाओं तथा भोगयुक्त जीवनपद्धति से तो स्वर्ग भी नरक बन जाता है।

देव सविता के सवन में,
स्वर्ग के निर्माण-हेतु,
युक्त हों हम युक्त मन से,
ब्रह्म के ब्राह्म बल से।

४३३ युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥ य ११/३

युक्त्वाय सविता देवान् स्वःयतः धिया दिवम्।
बृहत् ज्योतिः करिष्यतः सविता प्र-सुवाति तान्॥

यहां यह ज्योति के प्रसार का प्रक्रम है।

(सविता) सविता (स्वःयतः देवान्) आत्म-साधना करनेवाले देवों को (धिया) धी द्वारा (दिवम्) द्यौ—प्रकाश के प्रति (युक्त्वाय) युक्त करके [उन्हें बृहज्ज्योतिष्कार बनाता है।] (सविता) सविता (तान् बृहत् ज्योतिः करिष्यतः) उन बृहत् ज्योति करनेवालों को (प्र-सुवाति) प्र-प्रेरता है, सुप्रेरणा करता है।

इस मन्त्र का 'सविता' वह देव सविता है जो अखिल सृष्टि को प्रेर और प्रकाश रहा है, जिसकी ज्योति से यह सब द्योतित होरहा है।

धी का अर्थ है ध्यान और धारण। ध्यान से ही धारण होता है। जब आत्मसाधक देव-देवियां सविता देव के वरेण्य भर्ग [दिव्य तेज] अथवा आदित्य वर्ण [दिव्य सौन्दर्य] का ध्यान करते हैं तो उनमें दिव्य ज्योति का संचार होता है। ज्योतिष्मान् बनकर वे ज्योति का प्रसार करते हैं। इस प्रकार वे बृहज्ज्योतिष्कार बन जाते हैं।

आत्मसाधक देव-देवियां जब देव सविता की दिव्य ज्योति से ज्योतिष्मान् और बृहज्ज्योतिष्कार बन जाते हैं तो उन्हें सविता देव की सतत प्रेरणायें प्राप्त होती रहती हैं। सविता देव उन्हें विश्व के ज्योतिष्करण की सतत प्रेरणायें और उनका सतत मार्गदर्शन करता रहता है।

सविता आत्मसाधक देवों को
करता है संयुक्त द्यौ से धी के द्वारा।
उन बृहज्ज्योतिष्कारों को
सविता सुप्रेरणा करता है।
सूक्ति—सविता प्रसुवाति।
सविता सुप्रेरणा करता है।

४३४ युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥
[ऋ ५.८१.१, य ५/१४, ३७/२] य ११/४

युञ्जते मनः उत युञ्जते धियः विप्राः विप्रस्य बृहतः विपःचितः।
वि होत्राः दधे वयुन-वित् एकः इत् मही देवस्य सवितुः परि-स्तुतिः॥

पूर्व-मन्त्र में ध्यान द्वारा ज्योति के धारण का, देव सविता के वरेण्य भर्ग तथा आदित्य वर्ण के संचार का संकेत किया गया है। यहां इस मन्त्र में ध्यान की विधि का मूल रूप से उल्लेख किया गया है।

१) (विप्राः) विप्र जन (मनः युञ्जते) मन को युक्त-समाहित करते हैं (उत) और (धियः युञ्जते) धियों को युक्त-समाहित करते हैं।

वि-प्र, वि-प्रकृष्ट, विविधतया-विशेषतया-सर्वथा प्रकृष्ट जो हो उसे 'विप्र' कहते हैं। विप्राः शब्द का प्रयोग यहां नितान्त निर्दोष, निष्पाप, निर्मल योगियों के लिये हुआ है। इसी निरुक्ति के अनुसार विप्र नाम ब्रह्म [परमात्मा] का भी है। विप्र जन मनः और धियः को समाहित करके ध्यान-समाधि द्वारा विप्र—ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं।

मन 'हृत्प्रतिष्ठ' (य ३४/६) है, हृदयाकाश में स्थित है। वक्ष के नीचे और उदर के ऊपर भीतर की ओर जो दशांगुल अवकाश है, उसकी संज्ञा 'हृत्' [हृदयाकाश] है। हृत् के मध्य में हिरण्यय कोश और ज्योति से आवृत स्वर्ग है जिसमें देहाधिपति आत्मा का निवास है। आत्मनिवास अथवा आत्मकोश पर आत्मचेतना तथा आत्म-ज्योत्स्ना की चिन्मय परिधि है जिसे चित्त कहते हैं। चिन्मय परिधि पर संकल्पमय परिधि है जिसे मन कहते हैं। चित्त से जो चेतनामयी भावनाओं की तरंगें अथवा लहरें निरन्तर क्षरण करती रहती हैं, वे ही वृत्तियों के नाम से प्रसिद्ध हैं।

'धियः' का प्रयोग हुआ है यहां धारणाओं के लिये, जिनका अधिष्ठान है मस्तिष्क। इन धारणाओं का ही नाम विचार-तरंग अथवा विचार-प्रवाह है।

आत्मा से आत्मचेतना और आत्मज्योत्स्ना की, चित्त से वृत्तियों की, मन से संकल्पों की और मस्तिष्क से धारणाओं [चिन्तनों, विचारों] की रश्मियां अथवा लहरें सतत प्रवाहित होती रहती हैं।

२) विप्र जन योगासन में स्थित होकर आत्मसंयम से मन के संकल्पों और मस्तिष्क की धारणाओं का निरोध करके हृदय और मस्तिष्क को समाहित करके, समाधिस्थ होकर आत्मस्वरूप में अवस्थित होते हैं। उस अवस्था में वे इस अखिल में विप्र-ब्रह्म के निज रूप का तथा उसके अखिल-सृष्टिमय विराट् स्वरूप का साक्षात्कार करते हुए कहते हैं—वह (वयुन-वित्) वयुनों-विज्ञानों-प्रज्ञानों को जाननेवाला, सर्वगतियों—सर्वचेष्टाओं का ज्ञाता (एकः इत्) एक ही, एकला ही (होत्राः) होत्रों को, सृष्टिप्रवाहों को, लोकलोकान्तरों को (वि-दधे) विविधतया धारण कर रहा है, विविध प्राकृत नियमों द्वारा सहारते हुये संचालन कर रहा है। उस (बृहतः विपःचितः सवितुः देवस्य विप्रस्य) महान्, सर्वज्ञ, सर्वप्रकाशक, दिव्य विप्र-ब्रह्म की (परि-स्तुतिः) महिमा (मही) महती है।

इस मन्त्रांश में विप्र शब्द का प्रयोग प्रत्यक्षतः ब्रह्म के लिये हुआ है। विप्र-ब्रह्म इस अखिल में समाया हुआ है। विप्र जन समाधि-अवस्था में

विप्र–ब्रह्म के निज रूप का सन्दर्शन करते हैं और साथ ही इस अखिल को उसकी व्याप्तिमात्र से सुसंचालित हुआ देखते हैं। वे स्पष्ट देखते हैं कि सर्वव्यापक और सर्वज्ञ ब्रह्म किस प्रकार अपने सर्वव्यापक प्राकृत नियमों द्वारा प्रवाहमयी अखिल सृष्टियों तथा लोकलोकान्तरों को एकला ही धारण कर रहा हैं। यह तो ब्रह्म की महान् महिमा है ही। पर छोटे से हृत् में अनन्त का दर्शन, यह भी तो उसकी कैसी अद्भुत महान् महिमा है!

विप्र युक्त करते हैं मन को, अपि च
करते हैं वे युक्त–समाहित धारणाओं को।
एकला ही वह धार रहा है
विविध प्राकृत नियमों द्वारा,
सृष्टिप्रवाहों को, लोकों को।
महिमा मही महान् विपश्चित्
सर्वप्रकाशक देव विप्र की।

सूक्ति—युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्राः।
विप्र जन मन को समाहित करते हैं और धारणाओं को समाहित करते हैं।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इत्।
वह प्रज्ञावित् एकला ही सृष्टियों को धारण कर रहा है।
मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः।
देव सविता की महिमा महान् है।

४३५ युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥
[ऋ १०.१३.१, अ १८.३.३९] य ११/५

युजे वाम् ब्रह्म पूर्व्यम् नमःभिः वि श्लोकः एतु पथ्या-इव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥

यह आत्मस्वरूप में स्थित ब्रह्मसाक्षात्कृत् तत्त्ववित् सूरि का श्लोक है—

१) मैं (वाम्) तुम दोनों को (पूर्व्यम् ब्रह्म) सनातन ब्रह्म के प्रति (नमःभिः) नमस्कारों के साथ (युजे) युक्त करता हूं।

२) मुझ (सूरेः) सूरि का [यह] (श्लोकः) श्लोक (पथ्या-इव) पथ्या की तरह (वि एतु) वि-गमन करे, विविध–सर्व दिशाओं में व्याप जाये।

३) यह श्लोक (शृण्वन्तु) सुनें (अमृतस्य विश्वे पुत्राः) अमृत के [वे] सब पुत्र, (ये दिव्यानि धामानि आ तस्थुः) जो दिव्य धामों को/पर संस्थित हैं/दिव्य पदों पर विराजे हुए हैं।

सूर्य के समान प्रकाश प्रसार करनेवाले विप्रों की ही संज्ञा सूरि है। प्रत्येक विप्र–सूरि अपने राष्ट्र-जनों तथा विश्व-जनों को शिक्षा, उपदेश, प्रेरणा करते हुए कहता है—

१) मैं तुम दोनों को सनातन ब्रह्म के प्रति नमस्कारों के साथ युक्त करता हूं।

कौन हैं वे दो जिन्हें सूरि नमस्कारों के साथ सनातन ब्रह्म से युक्त रहने को कह रहा है? वे दो हैं स्त्री और पुरुष, पत्नी और पति, माता और पिता, नारि-वर्ग और नर-वर्ग। यह पारिवारिक और सामाजिक जीवन की ओर संकेत है। परिवार में दम्पती का और समाज में नर-नारी का जीवन ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये, नास्तिक नहीं। नास्तिकता से अधार्मिकता पनपती है। अधार्मिकता से उच्छृङ्खलता फैलती है। उच्छृङ्खलता से मानव-समाज में व्यसन, विलास, अनाचार, व्यभिचार, भ्रष्टाचार, मर्यादा-हीनता तथा निर्लज्जता की व्याप्ति होती है और उसका परिणाम होता है राष्ट्रों का अधःपतन तथा सर्वनाश। परिवार में प्रत्येक दम्पती और

समाज में प्रत्येक नर-नारी श्रद्धापूर्वक ब्रह्म को यथावसर नमस्कार करे, नमस्कारपूर्वक ब्रह्म की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करे। वे अपनी सम्पूर्ण भावना और साधना के साथ सनातन ब्रह्म से सतत युक्त रहें। ऐसे वातावरण में ही सन्ततियां शुद्ध विचार, आचार और व्यवहार से युक्त रहती हुयी आस्तिक, धर्मशील, योगवृत्त रहती हैं और राष्ट्र स्वच्छ, स्वस्थ तथा उत्थानोन्मुख रहते हैं।

२) मुझ सूरि का यह श्लोक पथ्यावत् व्याप जाये।

पथ्या नाम उस सुदीर्घ राजमार्ग का है जो ग्राम-ग्राम, नगर-नगर, प्रान्त-प्रान्त को एक-दूसरे से सम्बद्ध करता चला जाता है। श्लोक नाम प्रशस्त वचन अथवा पद्य का है। 'युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः'—सूरि का यह श्लोक पथ्या के समान ग्राम-ग्राम, नगर-नगर, प्रान्त-प्रान्त और राष्ट्र-राष्ट्र में व्यापता चला जाये, तो इस पृथिवी पर स्थित सारे राष्ट्र और सारी मानव-प्रजा भौतिक और आत्मिक अखिल सम्पदाओं से सुसम्पन्न होजायें और सतत सुसम्पन्न रह पायें।

३) इस श्लोक को सुनें अमृत के वे सब पुत्र-पुत्रियां, जो दिव्य धामों पर विराजे हुए हैं।

जो कुछ सत्य, शिव, शुद्ध, सुन्दर और शाश्वत है वह सब अमृत है। ब्रह्म, आत्मा, धर्म, कर्म का सेवन करनेवाले और जीवन के अमृतमय पथ पर चलनेवाले अमृत के पुत्र-पुत्रियां हैं। उनमें से भी जो पुत्र-पुत्रियां दिव्य धामों पर विराजे हुए हैं, दिव्य पदों पर आसीन हैं, मानव-समाज में श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित स्थितियों में स्थित हैं, वे इस श्लोक को सुनें और तद्वत् आचरण करें, क्योंकि दिव्य जन, प्रतिष्ठित देव-देवियां जैसा आचरण करते हैं, सामान्य जन उनका अनुकरण करते हैं। दिव्य धामों में विराजे हुए अमृत के पुत्र-पुत्रियां इस श्लोक की प्रतिष्ठा करके सम्पूर्ण मानव-समाज में जीवन की योगपद्धति की प्रस्थापना का पथ प्रशस्त करने में सहायक हों।

करता हूं मैं तुम दोनों को
युक्त—समाहित पूर्व्य ब्रह्म से
नमस्कारों के साथ।
व्याप जाये यह श्लोक सूरि का
पथ्या के समान।
सुनें इसे सब पुत्र अमृत के,
संस्थित हैं जो दिव्य पदों पर।

सूक्ति—वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
सूरि का सुसन्देश राजमार्ग की तरह व्याप जाये।

४३६ यस्य प्रयाणमन्वन्य इद् ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा।
यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना॥
[ऋ ५.८१.३] य ११/६

यस्य प्र-यानम् अनु अन्ये इत् ययुः देवाः देवस्य महिमानम् ओजसा।
यः पार्थिवानि वि-ममे सः एतशः रजांसि देवः सविता महित्वना॥

आज ही नहीं, सदा से, न केवल अबोधों, अज्ञानियों तथा संशयशीलों को, अपि तु बड़े-बड़े ज्ञानियों, योगाभ्यासियों, ऋषियों, कर्मकाण्डियों और भक्तों तक को उस सनातन ब्रह्म के अस्तित्व में शंका होती चली आयी है। पूर्व-मन्त्र में विप्रों ने सकल नर-नारियों को सम्पूर्ण भावना से नमस्कारोंसहित सनातन ब्रह्म से युक्त रहते हुए उसका साक्षात्कार करने की बात कही है और दिव्य पदों पर स्थित अमृत के पुत्र-पुत्रियों से उस दिशा में आदर्श प्रस्तुत करते रहने की सुप्रेरणा की है। उनके

मानस में उस तथ्य के प्रति पूर्ण आस्था जमाने और तद्विषयक उनकी निष्ठा में श्रद्धा [श्रत्=सत्य+धा=धारणा] बिठाने के लिये विप्र जन वेदमाता के दिव्य शब्दों में उपदेश करते हैं—लोगो ! (यस्य देवस्य) जिस देव के (प्र-यानम्) प्रयाण को तथा (महिमानम्) महिमा को (अन्ये देवा: इत्) विरले देव ही (अनु ययु:) प्राप्त किया करते हैं, प्रत्यक्ष जाना करते हैं, (य:) जिसने [अपने] (ओजसा, महित्वना) ओज और बड़ाई से (पार्थिवानि, रजांसि) पार्थिवों और रजों को (वि-ममे) रचा है, (स: एतश: सविता देव:) वही सर्वव्यापक सविता देव [पूर्व्य ब्रह्म, सनातन ब्रह्म] है।

प्रयाण=प्र-यान। प्र=प्रकृष्ट। यान=गमन, गति। परमात्मा की सर्वव्याप्ति ही उसका प्रयाण है।

अखिल सृष्टि में दो ही प्रकार के लोक हैं—पृथिवी-लोक जिन्हें 'पार्थिवानि' कहा गया है और प्रकाश-लोक जिन्हें 'रजांसि' कहा गया है। पार्थिवों में मिट्टी, अग्नि तथा जीवन-तत्त्व निहित होता है जिस कारण उनमें प्राणियों का अस्तित्व तथा निवास होता है और उनमें वायु, जल तथा वनस्पतियां होती हैं। रजोलोकों [प्रकाशलोकों] में कृष्णाबंन (कार्बन) पर अग्नि प्रज्वलित होता है, उनसे लाखों-करोड़ों मीलों तक ज्वालायें—लपटें उठती रहती हैं और उनसे करोड़ों-अरबों मील तक प्रकाश तथा ऊष्मा पहुंच रही होती है।

पार्थिव-लोकों तथा प्रकाश-लोकों से भरपूर यह सृष्टि अनन्त, असीम, अपार है। इसकी विशालता का कुछ अनुमान कराने के लिये सृष्टिविज्ञानवेत्ताओं द्वारा प्रस्तुत किये गये कुछ तथ्य यहां अंकित किये जाते हैं—

१) प्रकाश की गति एक सैकिण्ड में एक लाख छयासी हजार मील है।

२) असंख्य ऐसे नक्षत्र हैं जिनका प्रकाश निरन्तर उड़ता हुआ इस पृथिवी तक चालीस करोड़ वर्षों में पहुंचता है।

३) बीस-बीस, तीस-तीस लाख नक्षत्रों के पृथक् पृथक् अरबों ऐसे विश्व हैं जिनका प्रकाश एक-दूसरे विश्व तक पांच करोड़ वर्षों में पहुँचता है।

४) उपर्युक्त कोटि के करोड़ों विश्व नित्य बनते और बिगड़ते रहते हैं।

५) एक अरब चालीस करोड़ प्रकाश-वर्षों में विश्वों तथा ब्रह्माण्डों का व्यासार्ध द्विगुणित होजाता है।

६) असंख्य ऐसे पूषा-लोक हैं जिनका कार्य असंख्य सूर्यों को प्रकाश-भोजन देना है।

७) ज्येष्ठा तारा हमारी-जैसी सात पृथिवियों के बराबर है।

८) ध्रुव तारा हमारी पृथिवी से ढाई नील मील दूर है।

९) आकाश-गंगा में साठ करोड़ ऐसे लोक हैं जिनमें जीवन-तत्त्व और मानव तथा अन्य प्राणी निवास करते हैं।

१०) आकाश-गंगा में सूर्य-जैसे लाखों तारे हैं। हमारे अपने नक्षत्र-पुञ्ज में लाखों सूर्य तथा सौर मण्डल हैं।

११) विल्सन पर्वत तथा पालोमर की विज्ञान-शालाओं ने चार ऐसे नक्षत्रों का पता लगाया था, जिनमें से प्रत्येक के विस्फोट की चमक एक अरब सूर्यों की चमक के बराबर है। सन् १८८५ से १९६५ तक ऐसे एक सौ छब्बीस नक्षत्रों का पता लगाया जा चुका है।

खोजनेवालों ने जितना खोजा, उन्होंने इस सृष्टि को उतना ही अनन्त पाया और अन्त को वे 'नेति' कहकर चलते बने। पर वैज्ञानिक एक स्वर से यह अवश्य कहते चले आरहे हैं कि सृष्टि की रचना, विकास, संचालन—सब कुछ नियम और विधि के अधीन होरहा है। किन्तु वे अभी

तक यह नहीं जान पाये हैं कि ऐसे-ऐसे लोक आकाश में किस आश्रय से स्थित और संचालित हैं।

निश्चय ही एक देव है जो अपने सर्वव्याप्ति-रूप प्रयाण और संबल से, अपने ओज और महित्व से अखिल पार्थिव-लोकों तथा प्रकाश-लोकों को अपने सर्वव्यापी प्राकृत नियमों के मिष से रचता, चलाता और प्रकाशता है। वही सर्वव्यापक और सर्वज्ञ देव इस सबका सविता [रचयिता, संचालक, प्रकाशक] है। उस महिमामय की महिमा को ज्ञानी, विज्ञानी और अज्ञानी—सब देखते और स्वीकारते हैं। पर उसका प्रत्यक्ष अनुभवन, सन्दर्शन तो कोई देव ही कर पाते हैं, योगसाधना-सम्पन्न विप्र ही कर पाये हैं।

जिस देव के प्रयाण और महिमा को
विरले ही देव जान पाते हैं,
रचा है जिसने अपने ओज और महित्व से
पृथिवी-लोकों तथा प्रकाश-लोकों को,
वही सर्वव्यापक देव है इस सबका
सविता [रचयिता, प्रेरक और प्रकाशक]।

४३७ देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥
[य ६/१, ३०/१] य ११/७

देव सवितः प्र-सुव यज्ञम् प्र-सुव यज्ञपतिम् भगाय।
दिव्यः गन्धर्वः केत-पूः केतम् नः पुनातु वाचः पतिः वाचम् नः स्वदतु ॥

पूर्व-मन्त्र में विप्र जनों ने जिस सविता देव की महान् महिमा का आस्थामय दिग्दर्शन कराया है, उसी देव से वे यहां प्रार्थना करते हैं—

१) (देव सवितः)! (भगाय) भगार्थ, ऐश्वर्यार्थ, सौभाग्यार्थ (प्र-सुव यज्ञम्) सु-प्रेर यज्ञ को, (प्र-सुव यज्ञ-पतिम्) सु-प्रेर यज्ञपति को।

राष्ट्र-राष्ट्र में नागरिकों को योग-जीवनपद्धति से समलंकृत करना एक बहुत असाधारण और सुमहान् यज्ञ है। जो विप्र इस यज्ञानुष्ठान में संलग्न हैं वे भी महतो महान् यज्ञपति हैं। यह वह यज्ञ है जिससे देश-देश और राष्ट्र-राष्ट्र सच्चे अर्थों में भगशाली, भाग्यशाली, सौभाग्यशाली बनेंगे। जीवन की योगपद्धति ही सच्चा सौभाग्य है। देव सविता की अन्तर्व्यापिनी सुप्रेरणा ही इस यज्ञ की साधना को सफल बनायेगी। उसी की सुप्रेरणा इस यज्ञ के प्रत्येक यज्ञपति का सुनयन तथा मार्ग-दर्शन करने में समर्थ होगी। इसीलिये विप्रों की देव सविता से विनय है कि वह प्रत्येक विप्र यज्ञपति को सतत सुप्रेरणा करता रहे और उस यज्ञ को भी अपनी सुप्रेरणा से सुप्रेरित करता रहे।

२) (दिव्यः गन्धर्वः केत-पूः) दिव्य गन्धर्व केत-पू (नः केतम्) हमारे केत को (पुनातु) पवित्र करे।

गन्धः-वः गन्धर्वः। दिव्य गन्ध से जो युक्त हो उसे 'दिव्य गन्धर्व' कहते हैं। देव सविता ही वह गन्धर्व है जिसकी गन्ध दिव्य गन्ध है।

चित्त की चेतना और मस्तिष्क के ज्ञान का नाम केत है। 'पूः' का अर्थ है पवित्र करनेवाला। देव सविता ही केत का शोधक है। केत की पवित्रता के बिना निस्सन्देह विद्या और साधना दोनों ही निष्फल रहती हैं। केत की पवित्रता ही जीवनों को दिव्य गन्ध से सुगन्धित और दिव्य सुरभियों से सुरभित रखती है। परिष्कृत मस्तिष्क और परिष्कृत चित्त जीवनों को मलिनताओं से

मुक्त रखते हैं । केत के सुपूत रहने पर दृष्टि, श्रुति, वाणी, कृति, वृत्ति, भावना, संकल्प—सब कुछ दिव्य सुवासों से सुवासित रहते हैं। योगीकरण-यज्ञ के विप्र यज्ञपतियों के लिये यह परमावश्यक है कि वे निर्मल केत और दिव्य सुवास से सन्तत संयुक्त रहें। इसीलिये वे प्रार्थना करते रहते हैं—'दिव्य गन्धर्व केतपू सविता देव हमारे केत को पवित्र करे और सदा पवित्र रखे।'

३) (वाचः पतिः नः वाचं स्वदतु) वाचस्पति हमारी वाणी को स्वादिष्ठ करे/रखे।

देव सविता ही विप्रों का वाचस्पति हो, उनकी वाणी का पति और प्रेरक हो। विप्र-जनों के मुख से एक-एक शब्द वाचस्पति देव सविता द्वारा सुप्रेरित होकर निकलेगा, तब ही उनकी वाणी में वह स्वादिष्ठता आयेगी जिसकी इस महान् यज्ञ में अपेक्षा की जाती है।

केत की पवित्रता से विप्रों की वाणी जहां पवित्र और सुगन्धित रहती है, वहां वह स्वादिष्ठ भी रहे। पवित्र और सुगन्धित होने पर भी यदि वाणी स्वादिष्ठ नहीं है तो मानव-प्रजा उसका सेवन न करेगी। सार्वजनीन किसी भी शुभ साधना में वाणी की स्वादिष्ठता का महत्त्व प्रत्यक्ष है। विप्र जन स्वादिष्ठ वाणी के द्वारा ही ज्ञान का प्रकाश करते हुए जीवनों को उत्प्रेरित करते हैं। इसीलिये वे सदैव प्रार्थना करते रहते हैं—'वाचस्पति देव सविता हमारी वाणी को स्वादिष्ठ करे और स्वादिष्ठ रखे।'

सुप्रेरणा, निर्मल केत और स्वादिष्ठ वाणी—यह त्रित न केवल योग-यज्ञ की, अपि तु किसी भी साधना-यज्ञ की सफलता का अमोघ साधन है। और जब इस त्रित का सम्पादक स्वयं देव सविता हो, तब तो इसकी अमोघता और भी अमोघ होजाती है।

सुप्रेर यज्ञ को,
सुप्रेर यज्ञपति को।
दिव्य गन्धर्व केतपू
पवित्र करे हमारे केत को।
वाचस्पति स्वादिष्ठ करे
हमारी वाणी को।

सूक्ति—केतपूः केतं नः पुनातु।
वाचस्पति हमारे ज्ञान को पवित्र करे।
वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु।
वाचस्पति हमारी वाणी को स्वादिष्ठ करे।

४३८ इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यं सखिविदं सत्राजितं धनजितं स्वर्जितम्।
ऋचा स्तोमं समर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद् गायत्रवर्त्तनि स्वाहा॥ य ११/८

इमम् नः देव सवितः यज्ञम् प्र-नय देव-अव्यम् सखि-विदम् सत्रा-जितम् धन-जितम् स्वः-जितम्।
ऋचा स्तोमम् सम्-अर्धय गायत्रेण रथम्-तरम् बृहत् गायत्र-वर्त्तनि स्वाहा॥

अपनी प्रार्थना को जारी रखते हुए विप्र जन कह रहे हैं—

१) (देव सवितः)! (नः) हमारे (इमम्) इस (देव-अव्यम्) दिव्यताओं की रक्षा करनेवाले, (सखि-विदम्) सखाओं—मित्रों की प्राप्ति करानेवाले, (सत्रा-जितम्) सत्य को जितानेवाले, (धन-जितम्) धनों—संग्रामों की विजय सम्पादन करनेवाले, (स्वःजितम्) आनन्दजित्, सुखानन्दों की सम्प्राप्ति करानेवाले (यज्ञम्) यज्ञ को (प्र-नय) प्रकृष्टतया चला।

विप्रों का योगव्याप्ति-यज्ञ निस्सन्देह वह यज्ञ है जिससे—

१. राष्ट्र-राष्ट्र में दिव्य गुणों, कर्मों और स्वभावों की रक्षा होगी,

२. राष्ट्रों में पारस्परिक मित्रता की स्थापना होगी प्रत्येक राष्ट्र के नागरिक एक-दूसरे के सहृदय मित्र बनेंगे।

३. योगयुक्त होकर सभी राष्ट्र सत्यनिष्ठ होकर सत्य की विजय—प्रतिष्ठा सम्पादन करेंगे।

४. योगस्थ जनता धनैश्वर्यों से सम्पन्न और जीवन-संग्रामों में सफलकाम होगी। धन नाम ऐश्वर्य और संग्राम का है।

५. सर्वत्र स्वः [आनन्द] की जय–उपलब्धि होगी। ऐसे इस यज्ञ का सुसंचालन तब ही होगा, जब स्वयं अन्तर्यामी देव सविता उसका प्रणयन कर रहा होगा। इसीलिये विप्रों ने प्रार्थना की है, 'देव सवितः! हमारे इस यज्ञ का तू स्वयं प्रणयन कर।'

२) देव सवितः! (ऋचा स्तोमम्) ऋक् से स्तोम को, (गायत्रेण बृहत् रथम्-तरम्) गायत्र से बृहत् रथं-तर को, (स्वाहा गायत्र-वर्त्तनि) स्वाहुति से गायत्र-वर्त्तनि को (सं-अर्धय) सम्यक् बढ़ा।

वागृक्। ऋक् नाम वाणी का है, उस वाणी का जो प्रभु-प्रेरित अथवा आत्मप्रेरित हो। निस्सन्देह ब्रह्म-प्रेरित वाणी ही स्तोम का वर्धन—व्यापन करती है। 'यज्ञो वै स्तोमः।' यज्ञ ही स्तोम है।

'देव सवितः! ऋचा स्तोमं समर्धय। हमारी वाणी से यज्ञ का वर्धन कर। हमारी योगयुक्त वाणी योगयज्ञ की प्रसारिका हो। हमारी वाणी को ऐसी प्रभावमयी बना कि उससे प्रेरित होकर सर्व जन योगपथ पर चलें।'

'महाव्रतस्य गायत्रं शिरः।' महाव्रती का गायत्र शिर है। 'पृथिवी वै रथन्तरम्।' पृथिवी निस्सन्देह बृहत् रथं-तर है, विशाल रथ है, जिस पर सब प्राणी रथवत् आरूढ़ हैं।

'देव सवितः! गायत्रेण बृहद् रथन्तरं समर्धय। हमारे गायत्र [शिर] से विशाल पृथिविरूपी रथ को बढ़ा। हमारे योगयुक्त निर्विकार मस्तिष्क से जो दिव्य विचार निस्सृत हों, वे इस विशाल पृथिवी को योगमयी बनानेवाले और इस पृथिवी पर निवास करनेवालों को योगपथ पर चलाने-वाले हों।'

स्व-आहुति तथा सु-आहुति का नाम स्वाहा है। स्व-आहुति ही वास्तव में सु-आहुति है। गायत्र=गान। वर्त्तनि=मार्ग। गायत्र-वर्त्तनि नाम उस गान का है जो रस्ता-चलते, मार्ग पर गमन करते हुए गाया जाता है।

'देव सवितः! स्वाहा गायत्रवर्त्तनि समर्धय। स्वाहा से मार्ग-गान को बढ़ा। हममें स्वाहा की वह भावना जगा कि मार्ग चलते हुये भी हम स्व-आहुति की सु-आहुति का सुगान करते हुए पादविक्षेप करें। स्व की सु-आहुति के बिना योग का सार्वभौम पथ प्रशस्त न हो पायेगा। स्वाहा की आत्मध्वनियां ही जन-जन को योगार्थ ध्वनित करेंगी।'

देव सवितः,
चला प्रकृष्टतया हमारे इस
देवाव्य, सखिविद, सत्यजित,
धनजित, स्वर्जित यज्ञ को।
सम्यक् बढ़ा
ऋक् से स्तोम को,
गायत्र से बृहत् रथन्तर को,
स्वाहा से मार्ग-गान को।

सूक्ति—इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय।
देव सवितः! हमारे इस यज्ञ को प्रकृष्टतया चला।
ऋचा स्तोमं समर्धय।
वाणी से यज्ञ को बढ़ा।

४३९ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे ऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
आददे गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वत् पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्य-
मङ्गिरस्वदाभर त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ य ११/९

देवस्य त्वा सवितुः प्र-सवे अश्विनोः बाहुभ्याम् पूष्णः हस्ताभ्याम् । आ-ददे गायत्रेण छन्दसा अङ्गिरःवत् पृथिव्याः सध-स्थात् अग्निम् पुरीष्यम् अङ्गिरःवत् आ-भर त्रै-स्तुभेन छन्दसा अङ्गिरःवत् ॥

प्रार्थना के उपरान्त अब स्वयं योग-यज्ञ को आत्मशंसनात्मक सम्बोधन करते हुए प्रत्येक विप्र कहता है—

१) मैं (आ-ददे) ग्रहण करता हूं (त्वा) तुझे (देवस्य सवितुः) देव सविता के (प्र-सवे) समुत्पन्न संसार में (अश्विनोः बाहुभ्याम्) अश्वियों के बाहुओं से, (पूष्णः हस्ताभ्याम्) पूषा के हस्तों से ।

'त्वा' का प्रयोग यहां उस योग-यज्ञ के लिये हुआ है, पूर्व दो मन्त्रों में जिसके साफल्य की देव सविता से सुप्रेरणा तथा सुसंचालन की प्रार्थना की गयी है और जिसे देवाव्य, सखिविद्, सत्राजित्, धनजित्, तथा स्वर्जित् बताया गया है ।

'अश्वी' हैं दो नासिकाछिद्र जिनके दो बाहु हैं प्राण और अपान । आत्मा है पूषा जिसके दो हस्त हैं हृदय और मस्तिष्क । इस महतो महान् यज्ञ के सर्वाङ्गीण संवहन के लिये विप्र-विप्र को आत्मना अपान के समान अभद्र का सतत निराकरण और प्राण के समान भद्र का अनवरत संचार करते रहना है । साथ ही उन्हें अपने हृदय और मस्तिष्क का सन्तत परिष्कार तथा दिव्यीकरण भी करते रहना है । विप्रों को प्राणापान के समान निर्विश्राम, निर्विषय, निर्विकार और निरासक्त रहते हुए जन-जन में प्राण के समान योग-तत्त्व का संचार और भोग-वासना का निराकरण करते रहना है अपि च मानव-मानव को आत्मना प्रबुद्ध करते हुए हृदय-हृदय को जागरित और मस्तिष्क-मस्तिष्क को द्योतित करना है ।

२) योग-यज्ञ ! तू जन-जन में (आ-भर) भरदे, (पृथिव्याः सध-स्थात्) पृथिवी के सह-स्थान से (गायत्रेण छन्दसा) प्राण-रक्षण [जीवन की सार्थकता] की भावना से, (त्रै-स्तुभेन छन्दसा) त्रि-स्तुप् भावना से [मन, वचन, कर्म—तीनों की प्रशस्तता की भावना से], (अंगिरःवत्) अंगिरस्वत्, (अंगिरःवत्) अंगिरस्वत्, (अंगिरःवत्) अंगिरस्वत्, (पुरीष्यम्) श्री-प्रापक (अग्निम्) अग्नि को ।

यह पृथिवी सधस्थ है, सह-स्थान है, समान निवासस्थान तथा जीवनाश्रय है । मनुष्यमात्र की ही नहीं, वह प्राणिमात्र की सहस्थली है । सब इसी पर जन्मते, जीते और मरते हैं । इस पर जन्मनेवालों के जीवनों की सुरक्षा तथा सार्थकता तब ही सिद्ध होगी, जब इस पर निवास करनेवाले सभी मानवों के मानस में विप्रों के योग-यज्ञ के द्वारा गायत्र छन्द की, प्राण-रक्षण की, जीवन की सार्थकता की भावना प्रस्थापित होगी । जीवन की सार्थकता की भावना प्रस्थापित होगी त्रै-स्तुप् छन्द से, मन-वचन-कर्म के त्रित की प्रशस्तता की भावना से ।

अंगिरः=अंगि+रः । अंग-अंग में रस का संचार करनेवाले अग्नि का नाम 'अंगिराः' अग्नि है । परमात्मा ही वह अंगिरा अग्नि है जो सम्पूर्ण सृष्टि के अंग-अंग में, अवयव-अवयव में रस का संचार करता है ।

यहां, मन्त्र में, अंगिरा अग्नि का नहीं, अंगिरस्वत्, अंगिरःवत्, अंगिरा के तुल्य अग्नि का

उल्लेख है। आत्मा ही अंगिरस्वत् अग्नि है। जैसे परमात्मा सृष्टि के अंग [तनू] में संजीवन-रस का संचार करता है, वैसे ही आत्मा शरीररूपी अंग [तनू] में जीवन-रस का संचार करता है। 'अंगिरस्वत्' विशेषण का तीन बार प्रयोग अतिशयता के लिये हुआ है।

पुरीष नाम श्री का है। पुरीष्य का अर्थ है श्री-प्रापक। श्री नाम शोभा, सौन्दर्य और ऐश्वर्य का है। अंगिरस्वत् अग्नि, यह आत्मा ही जीवन में श्री का सम्पादक है। आत्मा की श्री से ही जीवन श्रीमान् बनता है।

'योगयज्ञ ! पृथिवी के इस सहस्थान से, पृथिविवासियों में, तू गायत्र तथा त्रै-स्तुप् की भावना से पुरीष्य अंगिरस्वत् अग्नि भरदे, अध्यात्मश्री-सम्पादक आत्माग्नि प्रज्वलित करदे,' विप्र-विप्र की इस आत्मकामना में एक अतिशय गहन और व्यापक योगभावना भावित है।

देव सविता के सवन में,
अश्वियों के बाहुओं से,
अपि च पूषा के हस्तों से
ग्रहण करता हूं तुझे मैं।
पृथिवी के सहस्थान से,
भरदे पृथिवी-वासियों में,
जीवन-रक्षण की भावना से,
त्रि-प्रशस्ति की भावना से
अंगिरस्वत्, अंगिरस्वत्,
अंगिरस्वत्, पुरीष्य अग्नि को।

४४० अभ्रिरसि नार्यसि त्वया वयमग्निं शकेम खनितुं सधस्थ आ।
जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ य ११/१०

अभ्रिः असि नारी असि त्वया वयम् अग्निम् शकेम खनितुम् सध-स्थे आ।
जागतेन छन्दसा अंगिरःवत् ॥

जसा कि पूर्व-मन्त्र की व्याख्या में बताया गया है, आत्माग्नि ही अंगिरस्वत् अग्नि है। जीवनरूपी खान में आत्माग्नि अन्तर्निहित है। अन्तस्साधना की कुदाली से जीवन-खान में खुदाई करने से उसकी प्राप्ति-प्रतीति होती है।

संसिद्ध विप्र जन सर्व जनों को जीवन की योग-पद्धति अपनाकर आत्माग्नि के प्रभरण-प्रज्वलन की, अध्यात्मयज्ञाग्नि को प्रकाशित करने की प्रेरणा तथा शिक्षा करते हैं। सर्व जन सोत्साह साधना-पथ पर चलते हैं, किन्तु एक बाधा के कारण योगपथ पर आगे बढ़ने में वे अपने आपको निरुपाय पाते हैं। उसी के उपाय की विधि दर्शाने के लिये वेद-माता ने सर्वजनों के मुख से कहलवाया है—

१) तू (अभ्रिः असि) कुदाली है।
२) तू (नारी असि) नारी है।
३) (त्वया) तेरे सहित (वयम्) हम (सधस्थे) सह-स्थान में (जागतेन छन्दसा) जागत भावना से, जगती के कल्याण की भावना से (अंगिरस्वत् अग्निम्) अंगिरस्वत् अग्नि को, आत्माग्नि को (खनितुम्) खोदने के लिये (आ शकेम) पूर्णतः सकें, सर्वतः समर्थ हो सकें।

नारी काम का मूल है। काम समस्त विकारों और मलिन वासनाओं का मूल है। चिन्तनविकार, विचारविकार, दृष्टिविकार, श्रुतिविकार, रसना-विकार, वचनविकार, वृत्तिविकार—सब काम की उपज हैं। काम ही व्यसनदोषों, स्वभावदोषों और चरित्रदोषों का उत्पादक है। यह विकट योगबाधा है।

उधर नारी शब्द का अर्थ है नयन—नेतृत्व करनेवाली, मार्गदर्शन करनेवाली, धर्मपथ पर चलानेवाली, सही मार्ग सुझानेवाली।

नारी के दो रूप हैं—कामरूपा, पथप्रशासित्री। नारी जब श्रृंगार और वासना में निमग्न होती है तो नर-समाज विषयलम्पट और भोगरत रहता है। नारी जब साधनापथ पर चलती है तो मानव-समाज योग के पुण्य पथ पर चलता है।

नारी नर के सध-स्थ में, सह-स्थान में निवास करती है। नारी सर्वत्र नर के साथ है—कहीं जननी के रूप में, कहीं पुत्री के रूप में, कहीं भगिनी के रूप में, कहीं पत्नी के रूप में, कहीं सहकारिणी और सहयात्रिणी के रूप में।

इधर योगसाधना-कुदालीं है जिससे आत्म-रत्न खोदकर निकालना है। उधर कामरूपा नारी है जो योग से हटाकर भोग की ओर खींच लेजाती है और साधक को विकारपुञ्ज बना देती है। विकारों में योगसाधना असम्भव है। समस्या का समाधान यही है कि नारी और नर, दोनों ही सहस्थान में सहसाधना करें, जगती के मंगल की भावना से अंगिरस्वत् अग्नि को खोदें। दोनों ही आत्माग्नि को खोजें। दोनों ही जीवन की योगपद्धति अपनायें।

यह हो नहीं सकता कि नारी की सहसाधना के बिना नर-समाज जीवन की योगपद्धति का अनुसरण कर सके। नरों के लिये यह अनिवार्य है कि वे नारियों को योगपथगामिनी बनायें। योगसाधकों के लिये यह अनिवार्यत: आवश्यक है कि वे पत्नियों को सहसाधिका बनाकर राष्ट्र-राष्ट्र में नर-समाज और नारि-समाज को साथ-साथ योग-जीवनपद्धति सिखायें। जब नारी कामरूपा के बजाय दिव्यरूपा देवी बनकर नर की सहसाधिका बनेगी, बात तब ही बनेगी।

अभ्रि और नारी को लक्ष्य में रखकर नर-समाज का यह उद्बोध सारगर्भित और मार्मिक हैं।

तू अभ्रि है,
तू है नारी,
तेरे-सहित सहस्थान में,
जगती के कल्याण-भाव से,
खोद सकें हम आत्माग्नि को।

४४१ हस्त आधाय सविता बिभ्रदभ्रिं हिरण्ययीम्।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरदानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ य ११/११
हस्ते आ-धाय सविता बिभ्रत् अभ्रिम् हिरण्ययीम्।
अग्नेः ज्योतिः नि-चाय्य पृथिव्याः अधि आ-अभरत् आनु-स्तुभेन छन्दसा अंगिरःवत् ॥

१) नारी को सहसाधिका बनाकर (सविता) सविता ने (हिरण्ययीम् अभ्रिम्) तेजोमयी कुदाली को (हस्ते आ-धाय) हाथ में थामकर (अंगिरःवत्) अंगिरस्वत् [अग्नि] को, आत्माग्नि को (बिभ्रत्) धारण किया।

सविता शब्द का प्रयोग यहां प्रकाशपुञ्ज योगनिष्ठ पति के लिये हुआ है। अपनी सहस्थाना जीवनसंगिनी नारी [पत्नी] को योगनिष्ठिता बनाकर जब पति ने तेजोमयी प्रकाशखनिका साधना-कुदाली को हस्तगत किया तो दोनों ने अंगिरस्वत् आत्माग्नि को, अध्यात्म-ज्योति को खोद निकाला, आत्मसाक्षात्कार किया।

२) आत्मसाक्षात्कार करके सविता ने नारी की सहसाधना से (अग्नेः ज्योतिः नि-चाय्य) आत्माग्नि की ज्योति निश्चितरूप से प्राप्त करके (आनु-स्तुभेन छन्दसा) आनु-स्तुप् भावना से [आत्म-ज्योति को] (पृथिव्याः अधि) पृथिवी के ऊपर (आ-अभरत्) छा दिया, व्याप दिया।

'अनु' शब्द में अनुसरणशीलता का भाव अन्तर्निहित है और स्तुत्य-प्रशस्त आचार का भाव अन्तर्निहित है स्तुप् शब्द में। आत्माग्नि की ज्योति को सम्पूर्ण पृथिवी पर व्यापने से पृथिवि-वासी मानव-प्रजा स्तुत्य आचार का अनुसरण करेगी, जिससे विश्व में योग-जीवनपद्धति का प्रचलन होगा—इस भावना से आत्मसाक्षात्कृत् प्रत्येक सविता सपत्नीक प्राप्त अध्यात्म-ज्योति का सर्वत्र प्रचार-प्रसार किया करता है।

वैदिक वाङ्मय में पति है सविता [सूर्य] और पत्नी है सूर्या [सूर्य की आभा]। सूर्या की सह-साधना से ही सूर्य पूर्णता के साथ प्रकाशता और व्यापता है। सूर्या के बिना सूर्य आभाविहीन है। सहसाधिका पत्नी के बिना पति निरुपाय और निस्तेज है।

थामकर हस्त में सविता ने
कुदाली तेजोमयी,
धारण किया आत्माग्नि।
प्राप्तकर निश्चयेन
आत्माग्नि की ज्योति,
अनुस्तुत्याचार की भावना से
उसने व्याप दी पृथिवी पर आत्मज्योति।

४४२ प्रतूर्त्तं वाजिन्नाद्रव वरिष्ठामनु संवतम्।
दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरित्॥ य ११/१२

प्र-तूर्त्तम् वाजिन् आ-द्रव वरिष्ठाम् अनु सम्-वतम्।
दिवि ते जन्म परमम् अन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्याम् अधि योनिः इत्॥

यहां सहसाधिका योगनिष्ठिता सूर्या अपने सविता को सम्बोधन करती हुई कह रही है—

१) (वाजिन्)!

यह सम्बोधन बड़ा बोधप्रद हैं। वाज नाम ज्योति, शक्ति और संग्राम का है। किसी भी सुचेता नारी की अपने पति में निष्ठा यों ही नहीं जम जाती है और वह पति की साध में सहसाधिका भी यों ही नहीं बनती है। वह अपने पति के प्रति सनिष्ठिता तथा उसकी सहसाधिका तब ही बनती है जब वह ज्योति और शक्ति से सज्ज होकर वास्तव में सविता बनता है और आत्मसाध तथा विश्वसाध में तथ्यतः निरत होता है। वाजसम्पन्न पति में ही वह गुरु-रूप का दर्शन करती है और उसकी सहसाधिका बनती है।

२) तू (वरिष्ठाम् सम्-वतम्) वरिष्ठा सं-गति/श्रेष्ठा प्रगति के प्रति (प्र-तूर्त्तम्) प्र-तीव्र, सुशीघ्र, आशुता के साथ (अनु आ-द्रव) अनुक्रम से आ/पादविक्षेप कर/क़दम बढ़ा।

सूर्या सहयोगात्मक कामना कर रही है और साथ ही अपने सविता को प्रेरणा कर रही है कि वह अपनी योगव्याप्ति की साध में तीव्र गति से प्रगति करे और अनुक्रम से साधना के पर्वों को तय करता हुआ अपने सार्वभौम लक्ष्य की प्राप्ति करे।

३) (दिवि ते परमम् जन्म) द्यौ में तेरा परम जन्म हो।

द्यौ से तात्पर्य द्युतिमय शिर से है। जन्म का अर्थ है प्रादुर्भाव, प्रकाशन। द्युतिमय शिर वह दिव्य धाम है, जहां ध्यानयोग द्वारा सत्यों और तत्त्वों का साक्षात्कार तथा प्रकाशन किया जाता है। 'द्युतिमय मस्तिष्क में तेरा प्रादुर्भवन और प्रकाशन हो,' सूर्या की सविता के प्रति यह जन्म को सार्थक बनानेवाली प्रेरणा है।

४) (अन्तरिक्षे तव नाभिः) अन्तरिक्ष में तेरी नाभि हो।

यस्मिन्नन्तरीक्षन्ते तदन्तरिक्षम् । जिसके भीतर दर्शन करते हैं, वह अन्तरिक्ष है। हृदयाकाश ही वह अन्तरिक्ष है जिसमें आत्मदर्शन होता है, ब्रह्म-दर्शन होता है, तत्त्वदर्शन होता है। हृदय नहीं, हृदयाकाश ही मानवदेह का अन्तरिक्ष है । हृदय और वक्ष के मध्य, भीतर की ओर जो अतिशय सूक्ष्म दशांगुल अवकाश अथवा आकाश है, वही हृदयाकाश मानवदेह का अन्तरिक्ष है। इसे ही वेद में 'परम व्योम' [परमाकाश] कहा गया है, क्योंकि इसी में परम का दर्शन होता है। यही वह दिव्य धाम है जिसके ज्योतिर्मय कोश में अंगिरस्वत् अग्नि [आत्मा] का निवास है। यहीं चिन्मय कोश [चित्त] है और यहीं मनोमय कोश [मन] है। 'नाभि' से तात्पर्य ज्योति और शक्ति के केन्द्र से है।

'अन्तरिक्ष में तेरी नाभि हो। तेरा अपना आत्मधाम ही तेरी ज्योति और शक्ति का केन्द्र है। तेरा यही धाम तेरे साहस और संबल को जागरित रखे,' सूर्या का यह सम्बोधन उसके सविता के लिये बहुत ही मार्मिक है।

५) (पृथिव्याम् इत् योनिः अधि) पृथिवी में ही योनि अधिष्ठित हो।

पार्थिव देह के लिये पृथिवी शब्द का प्रयोग हुआ है। योनि शब्द का प्रयोग हुआ है साधना-स्थली के अर्थ में। मानवदेह पार्थिव सही, पर है वह सुपावन सानधास्थली ही, है वह लोक-परलोक की सुसाधना के लिये हो। इस पृथिविरूपा मानव-योनि में ही यज्ञ, धर्म, योग सम्भव है। 'पार्थिव देह में ही तेरी साधनास्थली अधिष्ठित हो,' सूर्या का यह सम्बोधन सविता को उद्बुद्ध करनेवाला है।

वाजिन्,
वरिष्ठा प्रगति को प्रतीव्रता के साथ
तू निर्वहन कर अनुक्रम से।
द्यौ में हो तेरा परम जन्म,
अन्तरिक्ष में हो तेरी नाभि,
पृथिवी में रहे अधिष्ठित तेरी योनि।

सूक्ति—आद्रव वरिष्ठामनु संवतम् ।
वरिष्ठा प्रगति को अनुक्रम से निर्वहन कर।

४४३ युञ्जाथां रासभं युवमस्मिन् यामे वृषण्वसू । अग्निं भरन्तमस्मयुम् ।। य ११/१३

युञ्जाथाम् रासभम् युवम् अस्मिन् यामे वृषण्-वसू । अग्निम् भरन्तम् अस्म-युम् ।।

योग-जीवनपद्धति के प्रशिक्षण के लिये योगदम्पती सविता और सूर्या के हृदय में सर्व जनों के लिये आत्मस्नेह तो होना ही चाहिये, उनकी रसना और वाणी भी रसमयी होनी चाहियें। इस विषय का प्रकाशन करने के लिये यहां वेदमाता ने जनमुख से उनके प्रति कहलवाया है—(वृषण-वसू) दोनों वसु-वर्षको ! (युवम्) तुम दोनों (अस्मिन् यामे) इस याम में, संयमाश्रित इस योगानुष्ठान में (अस्म-युम्) हमें चाहनेवाले (अग्निम्) अग्नि को, प्रेमाग्नि को (भरन्तम्) धारण करनेवाले (रासभम्) रासभ को (युञ्जाथाम्) युक्त करो।

'वृषण-वसू' हैं वसुओं की वष्टि करनेवाले सविता-सूर्या दम्पती। वसु नाम ऐश्वर्य का है। यहां वसुओं से तात्पर्य योगैश्वर्यों तथा योगसम्पदाओं से है। योगदम्पती चाहे गृहस्थाश्रम में रहते हुये अपने गृह में निवास करनेवाले हों, चाहे विरक्ता-श्रम में प्रविष्ट होकर ग्राम-ग्राम, नगर-नगर, देश-देश में विचर रहे हों, वे सर्वत्र योगशिक्षण-शिविरों द्वारा योगक्रियाओं तथा योगैश्वर्यों की वृष्टि कर रहे हों। तब ही उनकी योगप्रसार की साध फल-वती होरही होगी।

'यम' का अर्थ है संयम। 'याम' का अर्थ है वह अनुष्ठान जिसमें यम-संयम की आवश्यकता होती है। स्पष्टतः याम शब्द का प्रयोग यहां

योगानुष्ठान के लिये हुआ है, जिसका आधार यम है।

'अस्मयु अग्नि' है प्रत्यक्षतः प्रेमाग्नि। प्रेम उष्ण होता है। जहां हृदय में प्रेम की ऊष्मा होती है, वहीं रासभ होता है। वेदवाङ्मय में 'रासभ' का अर्थ सर्वत्र रसना का रस और वाणी का स्वाद है। रसमयी रसना और स्वादु वचनों से ही जनजीवन योगयुक्त किया जा सकता है, नीरस रसना और कटु वाणी से नहीं।

वसुवर्षक तुम दोनों ही इस
संयमाश्रित योगसाध में,
हमें चाहनेवाले अग्नि को
धारण करते हुए हृदय में,
युक्त करो मुख में रासभ को।

४४४ योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये॥

[ऋ १.३०.७, साम १६३, ७४३, अ १९.२४.७, २०.२६.१] य ११/१४

योगे-योगे तवःतरम् वाजे-वाजे हवामहे। सखायः इन्द्रम् ऊतये॥

सूर्या और सूर्यायें, सूर्य के समान योगाभाओं, आत्मद्युतियों और अध्यात्मकिरणों से सुरश्मित साधक-साधिकायें सर्वजनों को योगशिक्षण करते हुए उपदेश देरहे हैं—हम सब (सखायः) सखा (योगे-योगे) योग-योग पर/में, (वाजे-वाजे) वाज-वाज में (ऊतये) रक्षार्थ (तवःतरम्) बलवत्तर (इन्द्रम्) इन्द्र को (हवामहे) पुकारें।

समान साध, साधना, व्यवसाय और ख्याति जिनकी होती है उन्हें सखा कहते हैं। जितने भी नर-नारी योग-जीवनपद्धति के पथिक हैं, वे सब परस्पर सखा हैं।

योग नाम संयोग, प्रसंग और अवसर का है।

वाज नाम संग्राम का है, उस संग्राम का नहीं जिसमें घातक आयुधों का प्रयोग किया जाता है, अपि तु उस मानवीय संग्राम का जिसमें ज्योति और शक्ति, ज्ञान और संबल, विवेक और क्षमता के आश्रय से संसार को ज्योतिर्मय और सम्पन्न बनाया जाता है।

योगपथ पर चलते हुए सुसंयोग भी आते हैं और विकट प्रसंग भी। योग-जीवनपद्धति का निर्वहन करते हुए कोमलावसर भी आते हैं और कठोरावसर भी। योगपथ पर प्रगमन और योग-जीवनपद्धति का निर्वहन वह 'वाज' है जिसमें बल—संबलोपेत इन्द्र—आत्मा भी कभी-कभी अपने आपको नितान्त निरुपाय पाता है। ऐसे प्रत्येक योग और प्रत्येक वाज पर समानख्यान—समख्याति योगसाधक-साधिकाओं तथा योगसूर्य-सूर्याओं द्वारा तवःपुञ्ज, सर्वशक्तिमान्, बलवत्तर इन्द्र [परमात्मा] को ही रक्षार्थ पुकारा जाने से घाटी पार होती है, उसी की सहायता से समस्या का समाधान होता है और उसी के द्वारा प्रदत्त प्रकाश से त्राण का मार्ग दिखाई पड़ता है। वही एक रक्षक है जो योगपथिकों की सर्वतः रक्षा करता है।

यह मन्त्र योगियों का वह महाप्रगान है जिसे वे निरन्तर गाते रहते हैं। यह वह गीत है जो योगियों के जीवन को दिव्य संगीत बना देता है। योगपथिकों को इसका पदे-पदे गान करते रहना चाहिये।

योगसखा हम
योग-योग पर वाज-वाज में,
सदा पुकारें रक्षाहेतु
इन्द्र तवस्तर बलवत्तर को।

४४५ प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्ती रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि ।
उर्वन्तरिक्षं वीहि स्वस्तिगव्यूतिरभयानि कृण्वन् पूष्णा सयुजा सह ॥ य ११/१५

प्र-तूर्वन् आ-इहि अव-क्रामन् अशस्तीः रुद्रस्य गाण-पत्यम् मयःभूः आ-इहि ।
उरु अन्तरिक्षम् वि-इहि स्वस्ति-गव्यूतिः अभयानि कृण्वन् पूष्णा स-युजा सह ॥

अपने योगोपदेश को जारी रखते हुये सविता, सूर्या जन-मानस को उद्बुद्ध करते हैं—

१) (प्र-तूर्वन्) तीव्रता करता हुआ, सवेग गमन करता हुआ (अशस्तीः अव-क्रामन्) अप्रशस्तियों को लांघता हुआ/पैरों से कुचलता हुआ [योगपथ पर] (आ-इहि) आ ।

मानव-जीवन जहां अमूल्य है, वहां जीवन की घड़ियां भी बहुत अमूल्य हैं । मानव को योगपथ पर आरूढ़ होने में विलम्ब नहीं करना चाहिये । किन्तु योगपथ पर चल वही सकेगा जो अप्रशस्तियों का परित्याग करके प्रशस्तियों से अपने आपको अलंकृत करेगा । अप्रशस्तियों का मलिन भार लादकर कोई इस राजमार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकता । जो कुछ भी दुः और कु है, वह सब अप्रशस्त है । जो कुछ भद्र और सु है, वह सब प्रशस्त है । अप्रशस्तियों से मुक्त होने पर ही मानव प्रशस्तियों से युक्त होपाता है । प्रशस्तियां योग-संलग्ना हैं । योगपथ पर चलने के लिये विचार, दृष्टि, श्रुति, वाणी, कृति, भावना—सब कुछ पवित्र, भद्र और प्रशस्त होना चाहिये ।

२) प्रशस्तियों से (मयःभूः) सुतीव्र/द्रुतगामी होकर (रुद्रस्य) रुद्र के (गाण-पत्यम्) गाणपत्य को (आ-इहि) प्राप्त—स्वीकार कर ।

'मय' नाम द्रुत—तीव्र गति का है । 'भूः' भावात्मकता का द्योतक है ।

रुत् नाम रोग और दोष का है । रोगों और दोषों को दीर्ण-विदीर्ण करके जो स्वस्थ और निर्दोष बनाता है उसे 'रुद्र' कहते हैं । योग अथवा अध्यात्म वह रुद्र है जो साधक को समस्त शारीरिक रोगों और आन्तरिक दोषों से नितान्त मुक्त कर देता है ।

गण नाम संघ या समूह का है । योगसाधकों का जो संघ है उसके अनुशासन से युक्त होकर योगपद्धति से जीवन-निर्वहन करना ही गाणपत्य को प्राप्त या स्वीकार करना है । संघबल सदा से ही मानवसमाज के समुत्थान तथा संवर्धन का साधन रहा है और रहेगा । मानव सर्वथा प्रशस्त होकर द्रुतगामिता के साथ योगपथ पर तब ही चलेगा, जब वह रुद्र [योगसंस्था] के संघाधिपत्य को शिरोधार्य करके उसके अनुशासन में निष्ठा-पूर्वक अभ्यास करेगा ।

३) रुद्र के गाणपत्य को अपनाकर (स्वस्ति-गव्यूतिः) स्वस्ति-मार्गी तू (स-युजा पूष्णा सह) संगाती पूषा के साथ (अभयानि कृण्वन्) निर्भयतायें करता हुआ (उरु अन्तरिक्षम् वि-इहि) विशाल अन्तरिक्ष को प्राप्त कर, विशालाशयता सम्पादन कर ।

संघानुशासन से साधक स्वस्तिपथगामी बनता है । स्वस्तिपथगामिता से वह अपने सतत संगाती आत्म-पूषा की सम्पुष्टियों द्वारा समस्त दिशाओं और पार्श्वों में निर्भयताओं का सम्पादन करता है । निर्भयताओं के सम्पादन से मानव का अन्तःकरण निर्मल और विशाल होता है ।

करता हुआ गमन तीव्रतः
और लांघता हुआ अप्रशस्तियों को आ ।
मयोभू तू कर स्वीकार
रुद्र के गाणपत्य को ।
स्वस्तिपथी तू सततसंगाती
अपने आत्मपूषा के साथ
निर्भयतायें करता हुआ
कर सम्प्राप्त विशालाशयता ।

४४६ पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभराग्निं पुरीष्यमङ्गिर-
स्वदच्छेमो ऽग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद् भरिष्यामः ॥ य ११/१६

पृथिव्याः सध-स्थात् अग्निम् पुरीष्यम् अङ्गिरःवत् आ-भर अग्निम्
पुरीष्यम् अङ्गिरःवत् अच्छ इमः अग्निम् पुरीष्यम् अङ्गिरःवत् भरिष्यामः ॥

जन-मानस को उद्बुद्ध करने के लिये सविता/सूर्या मानव-मानव को उत्प्रेरणा करते हैं—(पृथिव्याः सध-स्थात्) पृथिवी के सह-स्थान से (पुरीष्यम् अङ्गिरस्वत् अग्निम्) श्रीयुक्त अंगिरस्वत् अग्नि/आत्माग्नि को (आ-भर) प्राप्त—साक्षात् कर।

यह पृथिवी सब मानवों की समान साधना-स्थली है। अतः इस पर निवास करनेवाले मानवों में से प्रत्येक नर-नारी आत्मसाधना करके आत्म-साक्षात्कार करे, आत्मश्री से अपने आपको अलंकृत करे,—इसी में सधस्थ अथवा सहस्थान की सार्थकता है। साधनास्थली जब समान है तो साधना भी समान होनी चाहिये और उपलब्धि भी समान होनी चाहिये।

पूर्व दो मन्त्रों के योगोपदेश तथा उपर्युक्त उत्प्रेरणा से सर्व जन सोत्साह उद्घोष करते हैं—हम (पुरीष्यम् अङ्गिरस्वत् अग्निम्) श्रीमय अङ्गिरस्वत् अग्नि/आत्माग्नि को (अच्छ इमः) सम्यक् प्राप्त—अंगीकार करते हैं और (पुरीष्यम् अङ्गिरस्वत् अग्निम्) श्रीयुक्त अंगिरस्वत् अग्नि/आत्माग्नि को (भरिष्यामः) धारण—प्राप्त—साक्षात् करेंगे।

'हम योगयुक्त आत्मिक पद्धति को अंगीकार करते हैं और भविष्य में वैसा किये रहेंगे। हम अनुभव करते हैं कि योग-जीवनपद्धति से आत्मसाक्षात्कार करने और आत्मसाक्षात्कृत रहने में ही मानवजीवन की श्रेयता तथा सार्थकता है।'

पृथिवी के सधस्थ से धारण
कर पुरीष्य आत्माग्नि को।
अंगीकार करते हैं सम्यक्
हम पुरीष्य आत्माग्नि को।
धारण साक्षात् करेंगे
हम पुरीष्य आत्माग्नि को।

४४७ अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः।
अनु सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीननु द्यावापृथिवी आततन्थ ॥
[अ ७.८२.४, १८.१.२७] य ११/१७

अनु अग्निः उषसाम् अग्रम् अख्यत् अनु अहानि प्रथमः जात-वेदाः।
अनु सूर्यस्य पुरु-त्रा च रश्मीन् अनु द्यावा-पृथिवी आ-ततन्थ ॥

पूर्व-मन्त्रों में अंगिरस्वत् अग्नि अथवा आत्माग्नि के साक्षात्कार का उल्लेख हुआ है। आत्माग्नि के साक्षात्कार के उपरान्त ही परमात्माग्नि का दर्शन होता है। आत्मस्वरूप के साक्षात्कार से आत्मा की निज स्वरूप में अवस्थिति होती है। निज स्वरूप में अवस्थित होने पर ही आत्मा की परम आत्मा में समाहिति होती है और परमात्मा का दर्शन होता है। इसी रहस्य का उद्घाटन वेदमाता ने इस मन्त्र के द्वारा किया है।

(प्रथमः जात-वेदाः अग्निः) प्रथम जातवेदा अग्नि ने (उषसाम् अग्रम्) उषाओं के अग्र को (अनु अख्यत्) प्रकाशित किया, (अहानि अनु अख्यत्) दिनों को प्रकाशित किया, (च सूर्यस्य पुरु-त्रा रश्मीन्) और सूर्य की पुरुत्र—बहुत्र—असंख्य

रश्मियों को (अनु अख्यत्) प्रकाशित किया, (द्यावा-पृथिवी अनु आ-ततन्थ) द्यौ-भू को अनुक्रम से विस्तारा।

अनु शब्द सर्वत्र क्रम का द्योतन कर रहा है। अनु=अनुक्रम।

एक अग्नि है, जिसे यहां 'प्रथमः' तथा 'जात-वेदाः' कहा गया है। प्रथमः शब्द का प्रयोग परम, ज्येष्ठ, अनादि के अर्थ में हुआ है। 'जात-वेदाः' का अर्थ है जातमात्र को व्यापनेवाला और जानने-वाला, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ। वह प्रथम जातवेदा अग्नि प्रत्यक्षतः परमात्माग्नि, ब्रह्माग्नि, अथवा सूर्यों का सूर्य, परम सूर्य, प्रकाशस्वरूप, परम पावन प्रभु ही है।

उषाओं का अग्र है उषाओं की लालिमा, जो उषाओं के अग्र [आगे-आगे] चलती है। उषाओं की लालिमा उस प्रथम जातवेदा अग्नि के वरेण्य भर्ग की ही छटा है। उसी की आदित्यवर्ण छटा से उषाओं का अग्र प्रकाशित होता चला आरहा है।

उषाओं के अदृश्य होजाने पर दिनों का प्रकाशन होता है। दिनों के प्रकाशन का हेतु असंख्य-रश्मि सूर्य है। उसकी असंख्य रश्मियों का प्रकाशन भी सूर्यों के सूर्य, परम सूर्य प्रथम जातवेदा अग्नि से ही होरहा है।

द्यौ और द्युस्थ असंख्य लोकों का तथा, जिस पृथिवी पर हम निवास करते हैं, हमारी इस पृथिवी का विस्तार उसी नियन्ता के सर्वव्यापी नियमों से हुआ है और उसी परमाग्नि से वे सब प्रकाशित होरहे हैं।

यह प्रकृति में प्रकर्ता का सन्दर्शन है। कृति से कर्ता के कौशल का द्योतन तो होता ही है, उसके स्वरूप का भी आभास होता है। इस सर्व में उस सर्वव्यापक का सर्वरम सौन्दर्य झलक रहा है और उस सर्वज्ञ की सर्वज्ञता तथा परम-प्रज्ञता की भी अभिव्यक्ति होरही है। इस प्रकार उस प्रथम जातवेदा अग्नि की मही प्र-कृति/प्रकृष्ट-कृति के, मही सृष्टि के अवलोकन से उसकी मही परिष्टुति का, उसकी अवर्णनीय महिमा का चिन्तन करना 'दृश्यसमाधि' है। प्रकृति के दर्शन में भी प्रकर्ता का दर्शन है। प्रकृति पर मुग्ध होने से प्रकर्ता के दर्शन की अभिलाषा जागरित होती है।

प्रथम जातवेदा अग्नि ने
किया प्रकाशित अग्र उषाओं का,
फिर प्रकाशित किया दिनों को,
और प्रकाशित किया सूर्य
की बहुत्र असंख्य किरणों को।
अनुक्रम से विस्तारा उसने
द्यौ-भू को, असंख्य लोकों को।

४४८ आगत्य वाज्यध्वानं सर्वा मृधो विधूनुते।
अग्निं सधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषते॥ य ११/१८

आ-गत्य वाजी अध्वानम् सर्वाः मृधः वि-धूनुते। अग्निम् सध-स्थे महति चक्षुषा नि-चिकीषते॥

पूर्व-मन्त्र में उल्लिखित प्रकृति के (अध्वानम्) मार्ग को/पर (आ-गत्य) आकर (वाजी) वाजी (सर्वाः मृधः) सब मृधों को (वि-धूनुते) वि-कम्पाता है, झकझोरता है और (महति सध-स्थे) महान् सह-स्थान पर, विशाल पृथिवी पर (चक्षुषा) चक्षु से (अग्निम्) अग्नि को (नि-चिकीषते) निरन्तर चयन करता है, संजोता है।

वाज नाम ज्योति, शक्ति और संग्राम का है। आत्मज्योति और ब्रह्मशक्ति के आश्रय से मानव-समाज को विलास और विनाश से बचाने के लिये जो संग्राम करता है, उसे वाजी कहते हैं। वाजी शब्द का प्रयोग यहां उस विप्रसमूह के लिये हुआ

है जो भोगी विश्व को योगी बनाने के अध्यात्म-संग्राम में रत—निरत है।

मृधः नाम उन संग्रामों का है जिनमें हिंसकों द्वारा हिंसायें की जाती हैं, वीरों द्वारा शत्रुओं का हनन किया जाता है।

यह पृथिवी एक सुविशाल सहस्थान है जिस पर सकल मानव निवास करते हैं।

चक्षु शब्द का प्रयोग दृष्टि के लिये हुआ है और अग्नि शब्द का प्रेमाग्नि के लिये।

वाजी प्रकर्ता के प्राकृत पथ का पथिक है। उसके लिये सारी प्रकृति, सारी सृष्टि प्रकर्ता का एक असीम अविभाज्य विश्वसदन है, हमारी यह पृथिवी जिसका एक महान् सहस्थान है। यह सम्पूर्ण सहस्थान वाजी का अपना गृह है और उस पर निवास करनेवाली समस्त मानव-प्रजा उसका अपना परिवार है। अतः आत्मनिजता के साथ वह पृथिवी पर के हिंसकों को कम्पाता है—आत्मप्रेरणा तथा सदुपदेश द्वारा उन्हें झकझोरता है; घातप्रतिघातों तथा पारस्परिक हिंसाओं से मुख मोड़ता है और सर्वहित तथा सर्वमंगल से उनका नाता जोड़ता है। हिंसा या विनाश नहीं, सर्वपोषण ही प्रकर्ता की प्रकृति का प्राकृत मार्ग अथवा धर्म है।

वाजी की दृष्टि में विलगता नहीं है, अखिल मानव-प्रजा के प्रति आत्मसलगता है। उसकी दृष्टि में घृणा नहीं, प्रेमाग्नि है। और वह अपनी प्रेमाग्नि-पूरित दृष्टि से प्रेमाग्नि का सतत चयन करता है, अपने नेत्र में सदैव प्रेमाग्नि संजोता है।

वाजी मार्ग पर आकर सारी
हिंसाओं को कम्पाता है।
महा सधस्थ पर वह चक्षु से
प्रेम-अग्नि को संजोता है।

४४९ आक्रम्य वाजिन् पृथिवीमग्निमिच्छ रुचा त्वम्।
भूम्या वृत्वाय नो ब्रूहि यतः खनेम तं वयम्॥ य ११/१९

आ-क्रम्य वाजिन् पृथिवीम् अग्निम् इच्छ रुचा त्वम्। भूम्याः वृत्वाय नः ब्रूहि यतः खनेम तम् वयम्॥

वाजी सम्पूर्ण पृथिवी पर योगसन्देश तथा योग-प्रशिक्षण देता हुआ भ्रमण कररहा है। अपने इस योगप्रसार-विश्वभ्रमण में वह जहां से भी विदा होता है, वहीं से जनपुकार होती है—

१) (वाजिन्)! (पृथिवीम्) पृथिवी को/पर (आ-क्रम्य) परिक्रमण करके, घूमकर (त्वम्) तू (रुचा) रुचि के साथ (अग्निम् इच्छ) अग्नि को चाह, अग्नि की इच्छा कर।

अग्नि शब्द का प्रयोग यहां उस योगाग्नि के लिये हुआ है जिसमें तपकर मानव के सकल मल भस्म होजाते हैं। सब जन जान रहे होते हैं कि वाजी के पृथिवी-भ्रमण का उद्देश्य जन-जन को योगस्थ बनाना है। इसीलिये प्रत्येक विदाई और प्रस्थान पर उससे जनता कहती है, 'वाजिन्! पृथिवी पर परिभ्रमण करके तू रुचि के साथ, प्रेमपूर्वक सर्वत्र योगाग्नि प्रज्वलित और प्रकाशित करने की सफल इच्छा कर। तेरी यह इच्छा सर्वतः प्रशंसनीय है।'

२) वाजिन्! तू (भूम्याः) भूमि से (वृत्वाय) लौट-कर (नः ब्रूहि) हमारे प्रति कह, हमें उपदेश कर, (यतः) जिससे, ताकि (वयम्) हम (तम्) उसे [आत्मा को, परमात्मा को, आत्माग्नि को, ब्रह्माग्नि को] (खनेम) खोदें, खोद निकालें।

'अपने विश्वभ्रमण से लौटते हुए एक बार पुनः हमारे मध्य में आकर हमें योगाग्नि प्रज्वलित करने का ऐसा उपदेश करना कि

हम अपने जीवनों में अन्तर्निहित आत्माग्नि को, ब्रह्माग्नि को खोद निकालें, उसका साक्षात्कार करें।'

वाजिन्, पृथिवी पर परिक्रमण करके,
तू रुचिसहित चाह अग्नि को।
और लौटकर भूमि से तू
कर हमको उपदेश कि जिससे
खोद निकालें हम-जन उसको।

४५० द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्थमात्मान्तरिक्षं समुद्रो योनिः।
विख्याय चक्षुषा त्वमभि तिष्ठ पृतन्यतः॥ य ११/२०
द्यौः ते पृष्ठम् पृथिवी सध-स्थम् आत्मा अन्तरिक्षम् समुद्रः योनिः।
वि-ख्याय चक्षुषा त्वम् अभि तिष्ठ पृतन्यतः॥

प्रत्येक प्रस्थान पर इस मन्त्र से परिव्राजक वाजी का अभिनन्दन किया जाता है—
१) (द्यौः ते पृष्ठम्) द्यौ तेरी पृष्ठ है। द्युलोक तेरी पृष्ठ पर है, तेरा रक्षक है, तेरी ढाल है, तेरी छत है।
२) (पृथिवी ते सध-स्थम्) पृथिवी तेरा सहस्थान है। सारी भूमि तेरा गृह और तेरी शय्या है।
३) (अन्तरिक्षम् ते आत्मा) अन्तरिक्ष तेरा आत्मा है। आकाश के समान तेरी अनन्त असीम आत्म-व्याप्ति है।
४) (समुद्रः ते योनिः) समुद्र तेरी योनि है। समुद्र के समान गहन तेरी जीवनी है।
५) (चक्षुषा वि-ख्याय) चक्षु से विख्यात होकर, दृष्टि से विवेकख्यात रहकर (त्वम्) तू (पृतन्यतः अभि) संग्रामेच्छु के अभिमुख (तिष्ठ) स्थित हो।

पृतना नाम सेना का है। योगक्षेत्र में विकार ही वह पृतन्यु [संग्रामेच्छु] है जो पाप की वासना-रूपी असंख्य सेनाओं द्वारा सिद्धों और साधकों पर सतत आक्रमण करता रहता है। योगी सब ओर अपनी दृष्टि घुमाकर पापपृतन्यु का साम्मुख्य करता है। संसार में सब ओर मोहक अप्सराओं का नृत्य होरहा है। योगी सब ओर विवेकदृष्टि से देखता है और मोहकताओं से नितान्त अछूता तथा अप्रभावित रहता है। सृष्टि कैसी? दृष्टि जैसी। विवेकी की दृष्टि निर्विकार होती है। विवेकदृष्टि से देखने पर सांसारिक सब भोग रोगकारक और खाल-बाल के सब सौन्दर्य मल-कारक प्रतीत होते हैं।

परिव्राजक वाजी की आत्मसाधना का यह महिमामय चित्र है। उसकी योगसाध असाधारण साधना की अपेक्षा रखती है। उसकी पृष्ठ पर द्यौ की-सी द्युति होना ही उसकी सुरक्षा है। सम्पूर्ण पृथिवी उसका सहस्थान अथवा गृह है,—इसी भावना में उसकी साध की महत्ता है। अन्तरिक्ष—आकाश के समान उसकी आत्मनिजता की व्याप्ति ही उसे जन-जन का अभिन्नतया अपना बनायेगी। महासागर के समान प्रत्येक दृष्टि से अगाध, गहन और गम्भीर भी उसे होना ही चाहिये। विवेकदृष्टि से विवेकख्यात रहते हुए उसे सदैव निर्विकार स्थिति में स्थित रहना चाहिये। तब ही वह जगत् को पाप-ताप से त्राण का पथ दर्शा सकेगा और भोगग्रस्त संसार को योगस्थ कर सकेगा।

द्यौ तेरी पृष्ठ, पृथिवी सधस्थ,
आत्मा अन्तरिक्ष, योनि समुद्र।
होकर विवेकख्यात चक्षु से
हो अभिमुख स्थित पृतन्यु के।

४५१ उत्क्राम महते सौभगायास्मादास्थानाद् द्रविणोदा वाजिन् ।
वयं स्याम सुमतौ पृथिव्या अग्निं खनन्त उपस्थे अस्याः ॥ य ११/२१
उत्-क्राम महते सौभगाय अस्मात् आ-स्थानात् द्रविणःदाः वाजिन् ।
वयम् स्याम सुमतौ पृथिव्याः अग्निम् खनन्तः उप-स्थे अस्याः ॥

परिव्राजक वाजी के प्रस्थानाभिनन्दन को जारी रखते हुए कहा गया है—

१) (वाजिन्) ! (द्रविणःदाः) ऐश्वर्यों का देनेवाला तू (महते सौभगाय) महान् सौभाग्य के लिये (अस्मात् आ-स्थानात्) इस आस्थान से, इस पड़ाव से (उत्-क्राम) उत्क्रमण कर, उद्गमन कर; उत्कृष्टतया आगे बढ़ ।

द्रविण नाम इच्छा, वीर्य [पराक्रम], और धन-सम्पदा का है । तीनों अर्थों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । इच्छा से वीर्य [पराक्रम] की वृद्धि होती है । वीर्य से अभीष्ट सम्पदा की उपलब्धि होती है । वाजी द्रविणोदा है । वह मानव-प्रजा में योगेच्छा जागरित कर रहा है । योगेच्छा से जनता में योगवीर्य का सम्पादन होरहा है । योग-वीर्य से योगसम्पदा की उपलब्धि होरही है । ऐसे वाजी का एक ही आस्थान पर ठहरे रहना लोक-हित की दृष्टि से वाञ्छनीय नहीं है । उसे तो निरन्तर एक आस्थान से दूसरे आस्थान को उत्क्रमण करते रहना चाहिये । उसके सर्वत्र विचरते रहने से ही मानव-जाति के लिये महान् सौभाग्य की ससिद्धि होगी ।

२) वाजिन् ! तेरे उत्क्रमण से (वयम्) हम, हम सब मानव (अस्याः पृथिव्याः उपस्थे) इस पृथिवी की उपस्थ [गोद] में (अग्निम् खनन्तः) अग्नि को खोदते हुए, प्रकाश को खोजते हुए, तत्त्व को अन्वेषते हुए (सुमतौ स्याम) सुमति में हों/रहें ।

वाजियों के प्रस्थानरूप उत्क्रमण से प्रत्यक्षतः विश्व के मानवों को योगाग्नि की, अन्तःप्रकाश की, आत्मतत्त्व की, ब्रह्मतत्त्व की, प्रकृतितत्त्व की प्राप्ति होती है । साथ ही मानव-प्रजा की मति सुमति बनी रहती है । वाजियों के संग तथा उद्बोधन से वंचित होने पर जनसमुदाय कुमति से संगत होकर पथभ्रष्ट होजाता है, भोगपथ पर चलने लगता है । सुमति ही मानवों को योगपथ पर चलाती है ।

वाजिन् ! महा सौभाग्य के लिये
द्रविणोदा तू कर उत्क्रमण
इस आस्थान से ।
हम इस पृथिवी की उपस्थ में
अग्नि खोदते—खोजते हुए
रहें सुमति में ।

सूक्ति—उत्क्राम महते सौभगाय ।
महान् सौभाग्य के लिये उत्क्रमण कर ।
वयं स्याम सुमतौ ।
हम सुमति में हों/रहें ।

४५२ उदक्रमीद् द्रविणोदा वाज्यर्वाकः सुलोकं सुकृतं पृथिव्याम् ।
ततः खनेम सुप्रतीकमग्निं स्वो रुहाणा अधि नाकमुत्तमम् ॥ य ११/२२
उत्-अक्रमीत् द्रविणःदाः वाजी अर्वा अकः सु-लोकम् सु-कृतम् पृथिव्याम् ।
ततः खनेम सु-प्रतीकम् अग्निम् स्वः रुहाणाः अधि नाकम् उत्-तमम् ॥

पूर्व-मन्त्र के यथार्थ अभिनन्दन के अनुसार—

१) (द्रविणःदाः अर्वा वाजी) द्रविणोदा अर्वा वाजी ने (उत्-अक्रमीत्) उत्क्रमण किया ।

२) उसने (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (सु-लोकम् सु-कृतम्) सु-लोक और सु-कृत (अकः) [सम्पादन] कर दिया ।

वाजी के 'द्रविणोदा' विशेषण की पूर्व-मन्त्र में व्याख्या की जा चुकी है। यहां वाजी के लिये एक अन्य विशेषण 'अर्वा' का प्रयोग किया गया है। अर्वा नाम अतिशय तीव्र गति से मार्ग हिंसने अथवा मंजिल तय करनेवाले अश्व का है। यहां अर्वा शब्द का प्रयोग अतिशय तीव्रकारी अथवा तीव्र गति से साधना करनेवाले के अर्थ में हुआ है।

पृथिवी स्वयं एक लोक है। उस पर निवास करनेवाले मानव जब भोगपथारूढ़ होते हैं तो वह कुलोक बन जाती है। उसके निवासी मानव जब योगपथारूढ़ होते हैं तो वह सुलोक बन जाती है। पृथिवी को कुलोक अथवा सुलोक बनाने में कृतों का स्पष्ट सम्बन्ध है। सुकृत से सुलोक बनता है, कुकृत से कुलोक। द्रविणोदा, तीव्रकारी वाजी ने सतत उत्क्रमण करते हुए समस्त पृथिवी पर योग-जीवनपद्धति का विस्तार किया। उससे सुकृतों का प्रवाह प्रवाहित हुआ और पृथिवीलोक सुलोक बन गया।

३) (ततः) तत्पश्चात् [पृथिवि-रूपी सुलोक के निवासी हम सब मानव-प्रजायें] (उत्-तमम् नाकम् अधि) उत्तम स्वर्ग के ऊपर (रुहाणाः) आरोहण करते हुए (सु प्रतीकम् अग्निम्) सु-प्रतीक अग्नि तथा (स्वः) आनन्द (खनेम) खोदें—खोजें। पृथिवि-रूपी सुलोक के लिये ही 'उत्तम नाक' का प्रयोग हुआ है।

प्रतीक नाम मुख, सुरूप, सौन्दर्य का है। सु-प्रतीक, सु-मुख, सु-सुन्दर अग्नि है, जिसे खोदने पर उसका सन्दर्शन होता है, जिसके सन्दर्शन से आनन्द की प्राप्ति होती है। मानवजीवन में वह सुप्रतीक अग्नि है आत्मा और विराट् में परमात्मा।

सार्वभौम योग-जीवनपद्धति की प्रस्थापना द्वारा जब पृथिवी सुलोक बन जाती है, तब वह [पृथिवी] साक्षात् उत्तम नाक अथवा उच्चतम स्वर्ग बन जाती है। तब ही मानव-प्रजायें वहां जीवन में सतत आरोहण करती हुई सुपावन योगसाधना द्वारा सुप्रतीक अग्नि [आत्मा, परमात्मा] का साक्षात्कार करके सदा आनन्दयुक्त रहती हैं।

द्रविणोदा अर्वा वाजी ने
किया उत्क्रमण,
सम्पादन कर दिया पृथिवी पर
सुलोक और सुकर्म।
ततः उत्तम नाक के ऊपर
हम आरोहण करते हुए
खोदें—खोजें
सुप्रतीक अग्नि, आनन्द।

सूक्ति—खनेम सुप्रतीकमग्निं स्वः।
हम सुसुन्दर अग्नि तथा आनन्द खोद निकालें।

४५३ आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेन प्रतिक्षियन्तं भुवनानि विश्वा।
पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्तं व्यचिष्ठमन्नै रभसं दृशानम्॥
[ऋ २. १०. ४] य ११/२३

आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेन प्रति-क्षियन्तम् भुवनानि विश्वा।
पृथुम् तिरश्चा वयसा बृहन्तम् वि-अचिष्ठम् अन्नैः रभसम् दृशानम्॥

जनाभिनन्दन तथा स्वकीय सफलताओं के लिये वाजी धन्यवादस्वरूप परमपावन प्रभु को सम्बोधन करता हुआ कहता है—(विश्वा भुवनानि प्रति-क्षियन्तम्) सकल भुवनों को निवासने—व्यापनेवाले, (पृथुम्) पृथु, (बृहन्तम्) बृहद्, महतो महान्, (वि-अचिष्ठम्) वि-अचिष्ठ, (रभसम्) रभस, (दृशानम्) दर्शनीय (त्वा) तुझे [मैं] (मनसा) मन से, (घृतेन) घृत से, (तिरश्चा वयसा) तिरछे जीवन से, (अन्नैः) अन्नों से (आ जिघर्मि) पूर्णतः प्रकाशता हूं।

इस मन्त्र से सुप्रतीक अग्नि [सुसुन्दर परमात्मा] को खोदने—खोजने—साक्षात् करने की विधि भी ज्ञात होरही है। उस प्रतीकाग्नि को मन से, घृत से, तिरछे जीवन से, अन्नों से सुप्रकाशित किया जाता है।

'मन' से तात्पर्य अन्तःकरण अथवा हृदय से है। मन हृत्प्रतिष्ठ है। सुप्रतीक अग्नि के साक्षात्कार का प्रथम साधन है मन की साधना। अन्तःकरण को निर्मल और निश्चल, शुद्ध और समाहित रखना ही मन की साधना है। अन्तःकरण आत्मा का दर्पण है। दर्पण मलिन और गतियुक्त होता है तो मानव को अपनी आकृति दिखाई नहीं देती है। दर्पण के निर्मल और स्थिर होने पर स्वाकृति स्पष्ट दिखाई देती है। वैसे ही अन्तःकरणरूपी दर्पण जब मलिन और चंचल होता है तो आत्मा को आत्मस्वरूप का दर्शन नहीं होता है। अन्तःकरण के निर्मल और निश्चल होने पर अनायास ही आत्मा को आत्मना आत्मदर्शन होता है। आत्मदर्शन से आत्मा की स्वरूप में अवस्थिति होती है। स्वरूप में अवस्थिति सिद्ध होने पर परमात्मा का दर्शन सहजतया होजाता है।

'घृत' से तात्पर्य स्निग्ध स्नेह से है। घृत कहीं लग जाता है तो छुटाये नहीं छुटता है। इसी प्रकार साधक का सुप्रतीक अग्नि के प्रति वह स्निग्ध स्नेह हो कि छुटाये न छुटे। प्रेम की वह ज्वाल जल रही हो कि बुझाये न बुझे। वह लग्न लग रही हो कि दर्शन के बिना कल न पड़े।

सुप्रतीकाग्नि के दर्शनाभिलाषी का जीवन तिरछा [बांका] होता है। उसका जीवन संसारी जनों की तरह सांसारिकता के प्रवाह में नहीं बह रहा होता है। वह तो सांसारिकता से तिरछा—उलटा—आध्यात्मिक होता है। उसका जीवन संसारियों को तरह भोगयुक्त न होकर योगयुक्त होता है। वह ऊपर से नीचे की ओर नहीं बह रहा होता है, नीचे से ऊपर की ओर चढ़ रहा होता है। वह ऊर्ध्वरेता होता है, ऊर्ध्वारोहण कर रहा होता है, माया से ऊपर उठकर मायापति के परम पद की ओर आरोहण कर रहा होता है।

अन्न पांच हैं—चिन्तनान्न, दर्शनान्न, श्रवणान्न, मुखान्न, भावनान्न। इनके शोधन से ही मानव योगपथ पर प्रगमन कर पाता है। आसनस्थ होकर आत्मचिन्तन तथा ब्रह्मचिन्तन करने से विचारसत्त्व शुद्ध होता है। हर वस्तु में प्रभु का कौशल और हर सौन्दर्य में प्रभु की ज्योति निहारने से दृष्टिसत्त्व निर्मल होता है। आत्मा और परमात्मा के स्वरूप तथा उनके साक्षात्कार के उपायों के विषय में सिद्ध जनों के मुख से सुनने से श्रुतिसत्त्व का शोधन होता है। मुखाहार के सात्त्विकीकरण से शरीरसत्त्व पवित्र होता है। हृदय की सम्पूर्ण भावना से मछली की तरह ब्रह्मजल में लीन रहने से मनस्तत्त्व शुद्ध होता है। दूसरे शब्दों में, चिन्तनान्न के शोधन से बुद्धि, दर्शनान्न के शोधन से दृष्टि, श्रवणान्न के शोधन से श्रुति, मुखान्न के शोधन से प्रकृति, भावनान्न के शोधन से वृत्ति संदिव्य रहती हैं। इस पंचधा शोधन से अन्तः-बाह्य सकल मल, विक्षेप, आवरण तिरोहित रहते हैं और वाजी उस दिव्य प्रकाश से प्रकाशित रहता है जिससे वह विश्व में प्रतीकाग्नि—ब्रह्म को प्रकाशित करता है।

कैसा है वह ब्रह्म—प्रतीकाग्नि जिसे वाजी प्रकाशित कर रहा है? वह सकल भुवनों—लोकलोकान्तर को व्याप रहा है। वह पृथु है, अतिशय विस्तृत और विस्तारनेवाला। वह स्वयं अनन्त-विस्तार है और उसी ने इस असीम सृष्टि को अपनी माया से अनन्त विस्तार के क्रम में विस्तारा हुआ है। वह है महान्, जिसकी महत्ता का अन्त नहीं। वह है वि-अचिष्ठ, वि-अविचल, नितान्त निश्चल, कूटस्थ, अविचलता में स्थित, सूक्ष्मातिसूक्ष्म। वह है रभस्, प्रबल शक्ति से सशक्त, सर्वशक्तिमान्, शक्तिसंचारक।

इस सबमें उसी रभस् की शक्ति कार्य कर रही है और उसी की शक्ति से यह सब सुव्यवस्थित है। और परम सुन्दर, सौन्दर्यों का सौन्दर्य होने से दर्शनीय भी वह है ही।

सब भुवनों को व्यापनेवाले,
पृथु, बृहत्, कूटस्थ, रभस और
दर्शनीय को करता हूं मैं सुप्रकाशित
मन से, घृत से, तिरछे जीवन से, अन्नों से।

सूक्ति—आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेन।
मैं तुझे मन और आत्मस्नेह से प्रकाशित कर रहा हूं।

४५४ आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्म्यरक्षसा मनसा तज्जुषेत।
मर्यश्री स्पृहयद्वर्णो अग्निर्नाभिमृशे तन्वा जर्भुराणः॥
[ऋ २.१०.५] य ११/२४

आ विश्वतः प्रति-अञ्चम् जिघर्मि अरक्षसा मनसा तत् जुषेत।
मर्यश्रीः स्पृहयत्-वर्णः अग्निः न अभि-मृशे तन्वा जर्भुराणः॥

ब्रह्मसम्बोधन के उपरान्त वाजी आत्मशंसन करता हुआ कह रहा है—

१) मैं (प्रति-अञ्चम्) प्रति-अंच् को (विश्वतः आ जिघर्मि) विश्वतः सुप्रकाशित कर रहा हूं।

प्रत्यञ्च्=प्रति-अञ्च्, प्रतिशः गति देनेवाला, प्रतिक्षण प्रत्येक लोक को घुमानेवाला, अखिल सृष्टि का विश्वतः संचालन करनेवाला, सर्वव्यापी जो प्रतीकाग्नि ब्रह्म है, वाजी उसे प्रचार और साधना द्वारा विश्वतः प्रकाशित कर रहा है।

२) संसार (तत्) उस [प्रकाशित प्रकाश] को (अरक्षसा मनसा) अराक्षस मन [अन्तःकरण] से (जुषेत) सप्रेम सेवन करे।

मन दो प्रकार का होता है—राक्षस अथवा आसुर, अराक्षस अथवा दिव्य। संसार के मानस का जब दिव्यीकरण होगा, तब ही विश्व का मानव ब्रह्म के प्रकाश को, जो सर्वत्र व्यापा हुआ है, ध्यान द्वारा सस्नेह सेवन करेगा, उसके साक्षात्कार के लिये आत्मस्नेहयुक्त साधना करेगा। वाजी प्रचार तथा सुसाधना द्वारा ब्रह्म के प्रकाश का जो प्रकाशन कर रहा है, उससे निस्सन्देह जन-मानस का दिव्यीकरण होगा।

३) जनमानस को दिव्य बनाने के लिये वाजी जन-सम्बोधन करता हुआ सर्वत्र समझाता रहता है—

(जर्भुराणः) गात्रों को मरोड़ता हुआ [मैं] (मर्य-श्रीः स्पृहयत्-वर्णः अग्निः) मर्य-श्री, कमनीय-वर्ण अग्नि [प्रतीकाग्नि] को (तन्वा) शरीर से (न अभि-मृशे) स्पर्श नहीं करता हूं [आत्मा से स्पर्श करता हूं]।

'मर्याः' मनुष्यनाम। श्री नाम शोभा और सौन्दर्य का है। प्रतीकाग्नि मानव-श्री है, मानवता की शोभा है। प्रभु के वरेण्य भर्ग, आदित्य वर्ण, दिव्य सौन्दर्य को ध्यान द्वारा धारण करके ही मानव का जीवन सत्य, श्री और निर्विकार सौन्दर्य से युक्त होता है।

स्पृहयत्=स्पृहणीय, कमनीय। वर्ण=रूप, सौन्दर्य। प्रतीकाग्नि का सौन्दर्य कमनीय है। आत्मा उसके सौन्दर्य के सन्दर्शन की कामना करता है।

'अपने गात्रों [इन्द्रियों] को मरोड़ता हुआ मैं मानवश्री और कमनीयवर्ण प्रतीकाग्नि को अपने शरीर द्वारा स्पर्श नहीं करता हूं,' वाजी की इस उक्ति से एक गहन तत्त्व का उद्घाटन होरहा है। ब्रह्मस्पर्श मरोड़े हुए गात्रों [हठीली शरीरेन्द्रियों] तथा शरीर का विषय नहीं है, दिव्य अन्तःकरण तथा आत्मसाधना का विषय है। इन्द्रियों के मरोड़ [हठयोग] से नहीं, ब्रह्म का स्पर्श आत्मयोग से होगा।

करता हूं विश्वतः प्रकाशित प्रत्यञ्च को,
सेवन करे सप्रेम उसे जग मन सुदिव्य से ।

गात्रों को मरोड़ता हुआ करता हूं न स्पर्श तनू से
मानवश्री कमनीयवर्ण प्रतीक अग्नि को ।

४५५ परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत् । दधद् रत्नानि दाशुषे ॥
[ऋ ४.१५.३, साम ३०] य ११/२५
परि वाज-पतिः कविः अग्निः हव्यानि अक्रमीत् । दधत् रत्नानि दाशुषे ॥

पूर्व-मन्त्र में संकेत किया गया है कि प्रतीकाग्नि का स्पर्श शरीर अथवा शरीरेन्द्रियों से नहीं, आत्मयोग से किया जाता है। उसी प्रसंग में यहां इस मन्त्र में कहा जा रहा है—(वाज-पतिः) वाजों का स्वामी (कविः) कवि (अग्निः) अग्नि, प्रतीकाग्नि (दाशुषे) अर्पक के लिये (रत्नानि दधत्) रत्नों को धारण करता हुआ, रत्न प्रदान करता हुआ (हव्यानि परि अक्रमीत्) हवियों को परिक्रमण किया करता है, हवियों द्वारा सर्वतः प्राप्त/प्रत्यक्ष हुआ करता है।

प्रतीकाग्नि को यहां 'वाजपति' तथा 'कवि' विशेषणों से युक्त किया गया है।

ज्योतियों और शक्तियों का स्वामी होने से परमात्मा वाजपति है। वाजी को जितनी दिव्य ज्योतियां तथा दिव्य शक्तियां प्राप्त होती हैं, वे सब उसे वाजपति परमात्मा से ही प्राप्त हो रही हैं।

परमात्मा कवि है। वह क्रान्तप्रज्ञ, क्रान्तदर्शी तथा क्रान्तकर्मा है। उसकी प्रज्ञा, उसकी दृष्टि और उसका क्रतु सर्वथा क्रान्त हैं, अनुपमेय तथा अनुल्लंघनीय हैं। सर्वव्यापक और अन्तर्यामी होने से सब कुछ उसके ज्ञान में है, सब कुछ उसकी दृष्टि में है, सब कुछ उसके क्रतु [कर्तृत्व] में है। योग-जीवनपद्धति के प्रस्थापक और योगप्रसारक अर्पित वाजियों को सकल रत्न, सम्पूर्ण रमणीय योग-सम्पदायें उसी से सन्तत प्राप्त होती रहती हैं।

उसकी प्राप्ति, उसका साक्षात्कार वाजी तथा योगी जन आत्महवियों के आश्रय से किया करते हैं। तदर्थ-भावना से प्रणव का जाप, यम-नियम का पालन, आत्मनिरीक्षण, आत्मशोधन, आत्मधारणा, ध्यान, समाधि, इत्यादि अध्यात्म-हव्यों द्वारा सम्पादित योगानुष्ठान से ही आत्मा उसका स्पर्श [साक्षात्कार] करता है।

वाजपति कवि अग्नि
हव्यों को
परि-क्रमण किया करता है,
धारण करता हुआ रत्न
अर्पक के लिये ।

४५६ परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।
धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावताम् ॥
[ऋ १०.८७.२२, अ ७.७१.१, ८.३.२२] य ११/२६
परि त्वा अग्ने पुरम् वयम् विप्रम् सहस्य धीमहि । धृषत्-वर्णम् दिवे-दिवे हन्तारम् भङ्गुर-वताम् ॥

अध्यात्महवियों द्वारा वाजपति की प्राप्ति की राष्ट्रव्यापी और विश्वव्यापी योगसाधना के लिये राज्य तथा राजा, शासन तथा नृपति की संरक्षा अनिवार्यतः आवश्यक है। इसी संज्ञान का प्रकाशन करने के लिये वेदमाता ने योगसाधक वाजियों के मुख से देश और राष्ट्र के प्रतीक, नृपति [राजा,

राष्ट्रपति] के प्रति कहलवाया है—(सहस्य) बलवन्! शक्तिपुञ्ज! (अग्ने) तेजस्विन्! (वयम्) हम (त्वा पुरम्, विप्रम्, धृषत्-वर्णम, भंगुर-वताम् दिवे-दिवे हन्तारम्) तुझ पुर, विप्र, धर्षकवर्ण, भंगुर-वतों के दिन-दिन हनन करनेवाले को (परि धीमहि) सर्वतः धारण करें।

नृपति के लिये प्रयुक्त विशेषण क्षमतासूचक हैं।

नृपति हो 'पुर', पालक, पूरक, पूर्ति करनेवाला। वाजियों की सर्वथा वाञ्छनीय साध में साधनों की पूर्ति करना नृपति का तथा उसके शासन का प्रथम कर्तव्य है।

नृपति स्वयं हो 'विप्र', ब्रह्मनिष्ठ और निर्मल—निष्पाप योगी।

नृपति हो 'धृषत्-वर्ण', धर्षकरूप, प्रभावशाली आकृति तथा व्यक्तित्व से युक्त।

नृपति हो भंगुर-वतों को दिन-दिन हनन करनेवाला। भंगुर-वान् नाम उन नास्तिक, अधार्मिक, असामाजिक व्यक्तियों तथा संस्थाओं का है जो समाज के सुनियमों को भंग करते हुए मानवीय साधों में बाधायें उपस्थित करते हैं, सज्जनों को सताते हैं। हनन से तात्पर्य वध करना ही नहीं है, बाधित करना, रोक-थाम करना, दण्ड देना, दमन करना भी है। नृपति की शासन-व्यवस्था ऐसी कठोर और सुष्ठु हो कि वाजियों और वाजिकाओं की साधना में भंगुर-वतों द्वारा विघ्न न डाले जायें।

शक्तिपुञ्ज और तेजस्वी भी नृपति को होना ही चाहिये। वह रोगी, कृशकाय और निस्तेज न हो।

ऐसे नृपति के सुशासन में ही योग-जीवनपद्धति की प्रस्थापना सम्भव होती है। नृपति को धारण—शिरोधार्य करके वाजी निर्भय रहते हुए अपनी साध में रत—निरत रहें।

शक्तिपुञ्ज! तेजस्विन्!
हम तुझ पुर, सुविप्र, धर्षणस्वरूप को,
भंगुर-वतों के दिन प्रतिदिन
हनन—नियन्त्रण करनेवाले
नृपति को धारण करते हैं।

४५७ त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः॥
[ऋ २.१.१] य ११/२७

त्वम् अग्ने द्युभिः त्वम् आशु-शुक्षणिः त्वम् अद्भ्यः त्वम् अश्मनः परि।
त्वम् वनेभ्यः त्वम् ओषधीभ्यः त्वम् नृणाम् नृ-पते जायसे शुचिः॥

नृपति के प्रति अपने संवदन को जारी रखते हुए वाजी कहे चले जारहे हैं—

१) (अग्ने) तेजस्विन्! (नृ-पते) राजन्! राष्ट्रपते!

२) (त्वम् आशु-शुक्षणिः) तू शीघ्र-शीघ्र हिंसन—निवारण करनेवाला है।

'क्षणु' हिंसायाम्। क्षण् धातु का अर्थ है हिंसा अथवा निवारण करना। तेजस्वी नृपति के शासन में ऐसी सुव्यवस्था हो कि मानव-सेवी योगसाधक वाजियों की साधना के मार्ग में आसुरी वृत्ति के लोग हिंसायें या बाधायें उपस्थित करें तो उनका सद्यः नियन्त्रण अथवा निवारण करके साधना का पथ प्रशस्त कर दिया जाये।

३) (त्वम् नृणाम् शुचिः) तू नरों के बीच में शुद्ध—पवित्र है।

व्यक्तित्व की दृष्टि से नृपति का अपना जीवन नितान्त शुद्ध—पवित्र हो। राजा के व्यक्तित्व का शासन तथा प्रजा पर सीधा प्रभाव पड़ता है।

'यथा राजा तथा प्रजा' की उक्ति के समान ही 'यथा राजा तथा शासन' की उक्ति भी निस्सन्देह नितान्त सत्य है। स्वच्छ शासन और पवित्र प्रजा शुद्ध नृपति के तेजोमय व्यक्तित्व की स्वयंजात प्रतिक्रियायें हैं।

४) (त्वम् द्युभिः परि जायसे) तू दीप्तियों से सर्वतः प्रकाशित होता/होरहा है।

नृपति का तेजोमय, शुचितायुक्त व्यक्तित्व दीप्तियों से सदा प्रदीप्त रहे, चारित्रिक आभाओं और आन्तरिक पावनताओं से सदैव जगमगाता रहे।

५) (त्वम् अद्भ्यः) तू जलों से [सर्वतः प्रकाशित होता है]।

जिस प्रकार जलों के प्रयोग से शरीर और पदार्थ शुद्ध होते हैं, उसी प्रकार नृपति के आचारों के अनुसरण से मानवप्रजायें तथा शासन शुद्ध—संशुद्ध रहते हैं। नृपति स्वयं योगाचारी होता है तो राष्ट्रजनों में योगप्रवाह सहज प्रवाहित होते हैं।

६) (त्वम् अश्मनः) तू मेघ—पर्वत से [सर्वतः प्रकाशित होता है]।

नृपति पर्वतवत् उच्च बनकर जब मेघवत् सुसाधनों की वृष्टि करता है तो तीव्र वेग से शुभ साधों की सिद्धि होती है और वाजियों का परिश्रम सफल होता है।

७) (त्वम् वनेभ्यः) तू वनों से [सर्वतः प्रकाशित होता है]।

पर्वतवत् उच्च और मेघवत् उदार नृपति के राज्य में प्रजाजनों के जीवन योगवारि से उसी प्रकार पल्लवित और हरे-भरे होते हैं, जिस प्रकार वनों में वनस्पतियां।

८) (त्वम् ओषधीभ्यः) तू ओषधियों से [सर्वतः प्रकाशित होता है]।

जिस प्रकार निष्णात वैद्य की ओषधियों से नीरोग होकर मानव स्वास्थ्य-लाभ करते हैं, उसी प्रकार योग-पद्धति से जीवनयापन करनेवाले नृपति के राज्य में योग-नीतियों तथा योग-पद्धतियों से प्रजा-जनों के जीवन विलासमुक्त और योगयुक्त होते हैं। योग-नीतियां और योग-पद्धतियां ही वे ओषधियां हैं जो जनों के जीवनों को दोषमुक्त करती हैं।

तेजस्विन्! नृपते!
तू आशु-आशु हिंसन करनेवाला,
तू है शुद्ध—पवित्र नरों में,
तू प्रकाशता है द्युतियों से,
तू जलों से, तू अश्मा से,
तू वनों से, तू ओषधियों से।

४५८ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामि।
ज्योतिष्मन्तं त्वाग्ने सुप्रतीकमजस्रेण भानुना दीद्यतम्।
शिवं प्रजाभ्योऽहिंसन्तं पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामः॥ य ११/२८

देवस्य त्वा सवितुः प्र-सवे अश्विनोः बाहुभ्याम् पूष्णः हस्ताभ्याम्। पृथिव्याः सध-स्थात् अग्निम् पुरीष्यम् अंगिरःवत् खनामि। ज्योतिःमन्तम् त्वा अग्ने सु-प्रतीकम् अजस्रेण भानुना दीद्यतम्। शिवम् प्रजाभ्यः अहिंसन्तम पृथिव्याः सध-स्थात् अग्निम् पुरीष्यम् अंगिरःवत् खनामः॥

मैं भी (खनामि) खोदता—खोजता हूं (त्वा अंगिरस्वत् अग्नि को (पृथिव्याः सध-स्थात्) पुरीष्यम् अंगिरःवत् अग्निम्) तुझ श्री-प्रापक, पृथिवी के सहस्थान से (देवस्य सवितुः प्र-सवे)

देव सविता के समुत्पन्न संसार में (अश्विनोः बाहुभ्याम्) दो अश्वियों के दो बाहुओं से, (पूष्णः हस्ताभ्याम्) पूषा के दो हस्तों से,—वाजियों के संवदन के उत्तर में नृपति के मुख से यह महत्त्वपूर्ण वाक्य कहलवाकर वेदमाता ने आदर्श नृपति के स्वरूप का निरूपण किया है।

जैसा कि मन्त्र ९ में व्याख्यात किया जा चुका है, आत्मा ही 'पुरीष्य अंगिरस्वत् अग्नि' है, सारी पृथिवी सब मानवों तथा प्राणियों का सहस्थान है, दो नासिकाछिद्र हैं दो अश्वी जिनके दो बाहु हैं प्राण और अपान। पूषा—आत्मा के दो हस्त हैं हृदय और मस्तिष्क। आत्मजिज्ञासा तथा आत्मसाधना के द्वारा आत्मस्वरूप का ज्ञान तथा साक्षात्कार करना ही आत्मा का खनन है। देहरूपी खदान में आत्मरत्न अन्तर्निहित है। उस रत्न की खोज तथा प्रतीति अध्यात्म अथवा योग-जीवनपद्धति का मूलाधार है।

नृपति अपान के समान विकार-वासनाओं से निराकृत और प्राण के समान योगांगों से समाकृत रहता हुआ, हृदय से आत्मस्नेह और मस्तिष्क से सतत आत्मचिन्तन करके अपने जीवन-मन्दिर में आत्मखनन करे। आत्मखनन [आत्मसाक्षात्कार] से योग की समस्त कलायें स्वयमेव कलान्वित होजाती हैं। देव सविता के समुत्पन्न संसार में आत्मसाधना ही सार है। नृपति की ऐसी अध्यात्म-प्रवृत्ति से उसके शासन तथा प्रजा में योग के संस्कार समंकित होते हैं।

ऐसे सुधन्य नृपति के राज्य में निवास करनेवाली समग्र मानव-प्रजा स्वभावतः आत्मधन की धनी होती है और आत्मा का खनन अथवा उसकी खोज करती है। इसी तथ्य के द्योतनार्थ वेदमाता स्वयं प्रजाजनों के मुख से कहलवा रही है—(अग्ने) आत्माग्ने! हम (खनामः) खोदते—खोजते हैं (त्वा) तुझ (ज्योतिःमन्तम्) ज्योतिर्मय, (सु-प्रतीकम्) सुसुन्दर, (अजस्रेण भानुना दीद्यतम्) अविच्छिन्न दीप्ति से दीप्त, (प्रजाभ्यः शिवम्) मानवप्रजाओं के लिये मंगलकारी, (अहिंसन्तम्) हिंसा न करनेवाले, (पुरीष्यम्) श्री-सम्पादक (अंगिरस्वत् अग्निम्) अंगिरस्वत् आत्माग्नि को (पृथिव्याः सध-स्थात्) पृथिवी के सहस्थान से।

१) आत्माग्नि अंगिरस्वत् [परमात्मवत्] ज्योतिःस्वरूप है। स्वरूप से आत्मा ज्योतिष्मान् है। आत्मजागरण द्वारा जो आत्मज्योति को अनावृत कर लेता है, उसे अपने सत्य आत्मस्वरूप का सम्यक् दर्शन होता है।

२) आत्मा सुप्रतीक है, सुसुन्दर है, नितान्त सुन्दर है, साक्षात् सौन्दर्य है। जो आत्मसौन्दर्य का एकटक अवलोकन कर लेता है, वह आत्ममुग्ध/आत्मानन्दी होजाता है।

३) आत्मा अजस्र दीप्ति से दीप्त है। वह अक्षय प्रकाश से प्रकाशित है। आत्मबोध होने पर उसका प्रकाश अनावृत होता है और वह अपने प्रकाश से दिग्दिगन्त के अज्ञानान्धकार को तिरोहित करता है।

४) मानव-प्रजाओं के ही नहीं, सकल प्राणियों के देहसदनों में जो जितनी शिवता है, वह आत्मा की ही है।

५) आत्मा 'अहिंसत्' है। वह जब तक देह मे विराजित रहता है, तब तक देह की हिंसा नहीं होती है। वह स्वयं भी हिंसामुक्त है, अजर—अमर—अविनाशी है।

६) आत्मा 'पुरीष्य' है, श्रीमय है। जीवन में जोश्री है, जो शोभा है, वह सब आत्मा की ही है।

ऐसे उस आत्मा की खोज ही इस पृथिविरूपी तथा इस पार्थिव शरीररूपी सहस्थान की परमोत्कृष्ट साध है। पृथिवी सब प्राणियों का सहस्थान है तो पार्थिव शरीर आत्मा तथा इन्द्रियदेवों का सहस्थान है। दोनों ही सहस्थानों से आत्मरत्न का खोद निकालना ही परम पुरुषार्थ है।

खोदता हूं तुझ पुरीष्य,
अंगिरस्वत् आत्म-अग्नि को
पृथिवी के सहस्थान से,
देव सविता के प्रसव में
अश्वियों के बाहुओं से,
अपि च पूषा के हस्तों से

खोदते हैं हम तुझ ज्योतिर्मय,
सुन्दर, अविच्छिन्न ज्योति से द्योतित,
प्रजाओं के लिये सुमंगल,
अविनाशी, पुरीष्य,
अंगिरस्वत् आत्माग्नि को
पृथिवा के सहस्थान से।

४५९ अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम्।
वर्धमानो महाँ आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व ॥
[य १३/२] य ११/२९

अपाम् पृष्ठम् असि योनिः अग्नेः समुद्रम् अभितः पिन्वमानम्।
वर्धमानः महान् आ च पुष्करे दिवः मात्रया वरिम्णा प्रथस्व ॥

वाजियों को नृपति तथा प्रजा दोनों के सक्रिय और उदार सहयोग की अपेक्षा है। इस मन्त्र में वे नृपति को आत्मबोध कराते हुए उसे उत्प्रेरणा कर रहे हैं—

१) तू (असि) है (अपाम् पृष्ठम्) जलों की पृष्ठ, (अग्नेः योनिः) अग्नि की योनि, (च महान्) और महान्।

'अपाम् पृष्ठम्' से तात्पर्य जलों की पृष्ठ पर स्थिति से है। जिस प्रकार अनासक्त कमलपुष्प पंक और जल से ऊपर उठा हुआ सदैव जल की पृष्ठ पर स्थित रहता है, उसी प्रकार नृपति विषय-पंक और वासना-वारि से ऊपर उठा हुआ, इन्द्रियविलास और मानसिक विकार से मुक्त रहता हुआ, नितान्त अनासक्त और निष्पाप रहे।

सूर्य अग्नि की योनि है, अग्नि की खान है। अग्नि प्रतीक है तेज और प्रकाश का। अग्नि है दाहक और पावक।

नृपति जब कमलपुष्प के समान उत्स्थ [ऊंचा उठा हुआ] और अग्नि के समान आत्मतेज और ब्रह्मप्रकाश से युक्त रहता है तो वह महानता से युक्त होता है और तब ही राष्ट्रजनों में से दुरितों का दहन करता है और उन्हें जीवन की पवित्रता से सुयुक्त रखता है।

२) तू (पुष्करे) पुष्कर में (दिवः मात्रया) द्यौ की मात्रा से (वर्धमानः) बढ़ता हुआ (पिन्वमानम् समुद्रम्) सिंचनशील के समुद्र को (वरिम्णा) विशालता के साथ (अभितः आ प्रथस्व) सर्वतः विस्तार—व्याप।

जो भी पुष्टिकर है, उसी की संज्ञा पुष्कर है। यहां पुष्कर शब्द का प्रयोग पुष्टिकर राष्ट्र के लिये हुआ है। राष्ट्र वह पुष्कर है, जिसके सुष्ठु संचालन से नृपति और प्रजा दोनों की सर्वांगीण पुष्टि होती है।

ज्ञान और विवेक की मात्रा में वृद्धि करना ही द्यौ की मात्रा से बढ़ना है।

सम्यक्-उत्-गति जिसकी होती है, जो उत्थान की ओर लेजाता है, जिसके आश्रय से उत्कर्ष की ओर बढ़ा जाता है, उस अध्यात्म अथवा योगामृत के लिये ही यहां समुद्र शब्द का प्रयोग हुआ है। यही वह समुद्र है, जो जन-जीवन को सर्वतः सींचता है और दिव्य सत्त्व से सुयुक्त रखता है।

नृपति ज्ञान-विवेक से स्वयं बढ़ता हुआ राज्य में उस धर्म्य और योगमय सुनीति का प्रचलन करे कि राष्ट्र अनवरत पुष्ट—सुपुष्ट होता चला जाये।

ज्ञान-विवेक की मात्रा से सतत समृद्ध होता हुआ नृपति सिंचनशील योग-विज्ञान को सम्पूर्ण राष्ट्र में सर्वत्र सर्वतः विशालता—व्याप्ति के साथ विस्तारता—व्यापता रहे।

तू है पृष्ठ जलों की,
योनि अग्नि की और महान्।
बढ़ता हुआ तू पुष्कर में,
दिव्य ज्ञान की मात्रा से,
सिंचनशील समुद्र को अभितः
तू विस्तार विशालता से।

४६० शर्म च स्थो वर्म च स्थो ऽछिद्रे बहुले उभे। व्यचस्वती संवसाथां भृतमग्निं पुरीष्यम् ॥
य ११/३०

शर्म च स्थः वर्म च स्थः अ-छिद्रे बहुले उभे। व्यचस्वती सम्-वसाथाम् भृतम् अग्निम् पुरीष्यम् ॥

पूर्व-मन्त्र से नृपति को उत्प्रेरित करने के उपरान्त वाजी इस मन्त्र से नृपति तथा प्रजा दोनों को उद्बुद्ध करते हैं—

१) नृपति तथा प्रजा, तुम (उभे) दोनों (शर्म च वर्म च स्थः) शर्म और वर्म हो, (अछिद्रे बहुले स्थः) अछिद्र और बहुल हो।

नृपति शर्म है। प्रजा वर्म है। शर्म नाम गृह, सुख, शान्ति का है। वर्म नाम कवच का है। जिस प्रकार मानव अपने गृह में सुख और शान्ति अनुभव करता है, उसी प्रकार प्रजा नृपति के राज्यरूपी गृह में सुख, शान्ति, स्वस्ति का आस्वादन करे। जिस प्रकार कवच युद्ध में योद्धा के शरीर की रक्षा करता है, उसी प्रकार प्रजा नृपति की सर्वतः रक्षा करे। नृपति प्रजा का शर्म हो। प्रजा नृपति का कवच हो। ऐसा तब ही सम्भव होता है जब नृपति और प्रजा दोनों ही छिद्ररहित तथा साधनाबहुल हों।

२) छिद्ररहित और साधनाबहुल राजशक्ते तथा जन-शक्ते! (व्यचस्वती) व्याप्तिशील [तुम दोनों] (भृतम् पुरीष्यम् अग्निम्) धृत और श्रीमय अग्नि को (सम्-वसाथाम्) सम्यक् आच्छादन करो, सम्यक् व्यापो।

जन-जन की देह में धृत आत्मा और अखिल सृष्टि में धृत परमात्मा ही श्रीमय अग्नि है। आत्माग्नि शरीर की श्री है तो परमात्मा अखिल सृष्टि की श्री है। आत्मत्व और परमात्मत्व की भावना तथा साधना से नृपति और प्रजा, दोनों ही छिद्ररहित तथा अध्यात्मसाधनाबहुल बनकर व्याप्तिशील होते हैं, तो ही नृपति प्रजा का शर्म बनता है और प्रजा नृपति का वर्म बनती है, दोनों मिलकर पूर्णता—परिपूर्णता की व्याप्ति करते हैं। जिस राष्ट्र में नृपति–राष्ट्रपति तथा जनता, दोनों ही योग-पद्धति से युक्त साधनामय जीवन यापन करते हैं, वहीं नृपति और प्रजा छिद्ररहित होते हैं, उसी राष्ट्र में पुरीष्य अग्नि की व्याप्ति होती है, उसी में सकल भौतिक और आत्मिक सम्पदाओं का प्राचुर्य तथा बाहुल्य होता है।

दोनों शर्म और वर्म हो,
छिद्ररहित, बहुल।
धृत और पुरीष्य अग्नि को
सम्यक् व्यापो उभय व्याप्तिशील।

४६१ संवसाथां स्वर्विदा समीची उरसा त्मना। अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती ज्योतिष्मन्तमजस्रमित् ॥
य ११/३१

सम्-वसाथाम् स्वःविदा समीची उरसा त्मना। अग्निम् अन्तः भरिष्यन्ती ज्योतिःमन्तम् अजस्रम् इत् ॥

राजशक्ते तथा जनशक्ते! (स्वःविदा समीची) स्वःप्राप्त और सुसंगत [तुम दोनों] (ज्योतिष्मन्तम् अजस्रम् अग्निम्) ज्योतिःस्वरूप अविनाशी अग्नि को (अन्तः भरिष्यन्ती इत्) भीतर धारण करती

हुई ही (उरसा त्मना) हृदय से तथा आत्मा से (सम्-वसाथाम्) सम्यक् व्यापो।

स्वः को, अपने आपको, अपने आत्मस्वरूप को जाननेवाली और परस्पर संगत होकर सह-साधना करनेवाली नृपति की राजशक्ति तथा प्रजा की जनशक्ति के लिये ही मन्त्र में 'स्वर्विदा' तथा 'समीची' का प्रयोग हुआ है।

देह में आत्मा और सृष्टि में परमात्मा ही 'ज्योतिःस्वरूप, अविनाशी अग्नि' है। दोनों ही अग्नि जन-जन के हृदय में धारित हैं। यहां 'ज्योतिष्मान्, अजस्र अग्नि' का प्रयोग अध्यात्म के मूलाधार, ब्रह्माग्नि के लिये हुआ है। शासन-सत्ता और जनसत्ता, दोनों ही हृदय की भावना और आत्मा की चाहना के साथ उस ज्योतिःस्वरूप अविनाशी ब्रह्म को श्रद्धापूर्वक अपने अन्तःकरण में धारण करते हुए उसे देश के कण-कण में और राष्ट्र के जन-जन में शिक्षा तथा सत्संगों द्वारा व्यापने का सतत प्रयास करते रहें। देश-देश और राष्ट्र-राष्ट्र में व्यापते हुए ब्रह्माग्नि को सारी पृथिवी पर व्यापा जाये।

स्वर्विदा समीची तुम दोनों
ज्योतिष्मान् अजस्र अग्नि को
अन्तः में संधारण करके
व्यापो उरसा और आत्मना।

४६२ पुरीष्यो ऽसि विश्वभरा अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने।
त्वामग्ने पुष्कराद्ध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥
[ऋ ६. १६. १३, य १५/२२, साम ९]   य ११/३२

पुरीष्यः असि विश्व-भराः अ-थर्वा त्वा प्रथमः निःअमन्थत् अग्ने।
त्वाम् अग्ने पुष्करात् अधि अ-थर्वा निःअमन्थत। मूर्ध्नः विश्वस्य वाघतः॥

नृपति तथा प्रजा को उत्प्रेरित और उद्बुद्ध करने के उपरान्त वाजी अब ब्रह्माग्नि का उन्मन्थन करके उसकी कृपार्थ अभ्यर्थना करते हैं—

१) (अग्ने) ब्रह्माग्ने! तू (असि) है (विश्व-भराः) विश्व का भरण—पोषण—धारण करनेवाला तथा (पुरीष्यः) श्रीकर-श्रेयस्कर। (प्रथमः अथर्वा) प्रथम अथर्वा, प्रथम कोटि का अकम्प योगी (त्वा निःअमन्थत्) तुझे मथकर निकाला करता है।

ब्रह्माग्नि अखिल विश्व में भरा—व्यापा हुआ है और अपनी व्याप्ति से विश्व का भरण—धारण—पोषण कर रहा है। उसी की श्री से यह सब सुशोभनीय है। माया प्रेयस्कर है, मायापति ब्रह्म श्रेयस्कर है।

सबमें समाया हुआ भी वह सबकी दृष्टि से ओझल है। दुग्ध में घृत है। दुग्ध दिखाई देता है, उसमें निहित घृत दिखाई नहीं देता। दुग्ध का मन्थन—विलोडन किया जाने पर घृत का साक्षात्कार होता है।

माया के भीतर-बाहर मायापति ब्रह्म रमा हुआ है। पर वह दिखाई नहीं देता। जब कोई प्रथम कोटि का अथर्वा, प्रथम श्रेणी का अकम्प—अडिग योगी योगांगों द्वारा आत्ममन्थन—आत्म-विलोडन करता है, तब उसे अपने आपमें और सकल माया में ब्रह्माग्नि का सम्मिलन तथा सन्दर्शन होता है।

२) (अग्ने) सुन्दर देव! (अ-थर्वा) अथर्वा (त्वाम्) तुझे (वाघतः पुष्करात् अधि) यज्ञीय पुष्कर से ऊपर (विश्वस्य मूर्ध्नः) विश्व की मूर्धा का (निःअमन्थत) मन्थन करके निकाला करता है।

अथर्वा का शिर ही विश्व की मूर्धा है, विश्व का सर्वोच्च धाम है। योगस्थ होकर मस्तिष्क

में चिन्तन—ध्यान करने से विश्व—सृष्टि के सारे रहस्य उद्‌घाटित होजाते हैं। इसी से अथर्वा के शिर को विश्व का मूर्धा कहा जाता है। सृष्टि में मनुष्य सर्वयोनियों की मूर्धा है और मनुष्य में भी उसका शिर परम मूर्धा है, विश्व की मूर्धा है।

मानवदेहस्थ हृदयाकाश में देहाधिष्ठाता आत्मा का निवास है। आत्मा ही देह-साम्राज्य का पुष्कर [पुष्टिकर देव] है। पुष्कर आत्मा का निवासस्थान होने से हृदयाकाश की भी संज्ञा 'पुष्कर' है। इसी यज्ञीय पुष्कर से ऊपर विश्व की मूर्धा [शिर] है।

अथर्वा जब हृदयाकाश में अपने मन और चित्त को निरुद्ध करके उससे ऊपर मस्तिष्क का मन्थन करता है, अथवा मस्तिष्क में चिन्तन—ध्यान करता है, तब आत्मा स्वरूप में अवस्थित होता है, तब ही पुष्कर और मूर्धा, हृदयाकाश और मस्तिष्क अविचलता के साथ स्थिर—समाहित होते हैं। समाहिति की इस अवस्था में योगी ब्रह्म के निज रूप का साक्षात्कार करता है और कहता है, 'तेजो यत् ते रूपं कल्याणतमं तत् ते पश्यामि'=सुन्दर देव! तेरा जो परमतेजोमय और परमकल्याण-कारी स्वरूप है, मैं उसका साक्षात् दर्शन कर रहा हूं। इसी का नाम निर्मन्थन है।

अग्ने, तू है
श्रेयस्कर अपि च विश्वम्भर।
तुझे किया करता है प्रकट
प्रथम अथर्वा मन्थन करके।
अग्ने, तुझे किया करता है
प्रकट अथर्वा योगी मन्थन करके
यज्ञीय पुष्कर से ऊपर
विश्व-मूर्धा वा मस्तक का।

सूक्ति—पुरीष्यो ऽसि विश्वभराः।
तू श्रेयस्कर है, विश्वम्भर।
अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थत्।
प्रथम कोटि का अविचल योगी तुझे मन्थन करके
निकाला करता है।

४६३ तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः पुत्र ईधे अथर्वणः। वृत्रहणं पुरन्दरम् ॥
[ऋ ६. १६. १४] य ११/३३

तम् उ त्वा दध्यङ् ऋषिः पुत्रः ईधे अथर्वणः। वृत्र-हनम् पुरम्-दरम् ॥

ब्रह्माग्नि की कृपार्थ अपनी अभ्यर्थना जारी रखते हुए वाजी कहे चले जारहे हैं—(तम् त्वा वृत्र-हनम् पुरम्-दरम्) उस तुझ वृत्र-नाशक पुरम्-दर को (अथर्वणः दध्यङ् ऋषिः पुत्रः उ) अथर्वा का दध्यङ्, ऋषि पुत्र ही (ईधे) प्रज्वलित—प्रकट—प्रकाशित—साक्षात् किया करता है।

वृत्र नाम घेरा डालनेवाले और अंधेरा करनेवाले का है। पाप ही वृत्र है जो मानवों का घेरा डालकर उन्हें अन्धतम गर्त में पटकता रहता है। परमात्मा वृत्रहन् है, पापहारी है, दुरितनाशक है। योगवृत्ति से जो ब्रह्माग्नि में अर्पित—समाहित होते हैं, उनके पाप उसी प्रकार भस्म होजाते हैं जिस प्रकार अग्नि मल को भस्म करके स्वर्ण को शुद्ध कुन्दन बनाता है।

पुरों को जो दीर्ण करता है, उसे 'पुरन्दर' कहते हैं। पापों को पनपानेवाले जो वासनाओं के पुर हैं, ब्रह्माग्नि उन्हें दीर्ण करके धड़ाम से ढा देता है। योग-वृत्ति से जीवन-यापन करनेवाले जब अपनी सम्पूर्ण भावना से ब्रह्माग्नि में समाहित रहने लगते हैं तो अनायास ही वासनाओं के पुर दीर्ण होजाते हैं।

अथर्वा नाम अकम्प—अविचल योग का है। दध्यङ् का अर्थ है धारण करनेवाला, योगांगों के आश्रय से संसाधना करनेवाला। ऋषि का अर्थ

है विवेचक; विवेचना करनेवाला, विश्लेषण और संश्लेषण करके परम तत्त्व तक पहुँचनेवाला। पुत्र शब्द का प्रयोग यहां सन्तति के अर्थ में हुआ है।

अथर्वा की दध्यङ् और ऋषि कोटि की पवित्र सन्तति ही उस वृत्रहन् और पुरन्दर ब्रह्माग्नि को प्रज्वलित—प्रकाशित—साक्षात् करती है, असुरों की आसुरी सन्तति नहीं। वाजियों का प्रयास माता-पिताओं को अथर्वा बनाना और उनकी सन्तति को संसाधना तथा ऋषित्व के संस्कारों से सुसंस्कृत करना है। संसाधना के संस्कारों से सुसंस्कृत सन्तति ही परम्परा से वंशानुवंश जीवन की योगपद्धति की रक्षा कर सकेगी।

वृत्रविनाशक और पुरन्दर
उस तुझको प्रज्वलित—प्रकाशित
किया करता है अथर्वा का
दध्यङ् और ऋषि पुत्र ही।

४६४ तमु त्वा पाथ्यो वृषा समीधे दस्युहन्तमम् । धनञ्जयं रणेरणे ॥
[ऋ ६. १६. १५] य ११/३४

तम् उ त्वा पाथ्यः वृषा सम्-ईधे दस्युहन्-तमम् । धनम्-जयम् रणे-रणे ॥

अभ्यर्थना को जारी रखते हुए वाजी कहे चले जारहे हैं—(तम् त्वा दस्युहन्-तमम् रणे-रणे धनम्-जयम् उ) उस तुझ दस्युहन्-तम और रण-रण में धन-जय करने-करानेवाले को ही (पाथ्यः वृषा) पाथ्य वृषा (सम्-ईधे) सम्यक् प्रज्वलित किया करता है।

दंशन [डंक मारने] और दर्शन [दर्शनीयता] से युक्त का नाम दस्यु है। बाहर से जो बड़े सुन्दर, सुहावने और दर्शनीय होते हैं, किन्तु भीतर जो विषय-वासना तथा स्वार्थसाधना के दंश [डंक] संजोये रहते हैं, वे दस्यु कहाते हैं। मानव-जीवन में निहित विषय-वासनायें भी दर्शन में बड़ी लुभावनी हैं। परन्तु अन्तस्सेवन में वे विषैले दंश सिद्ध होती हैं। अतः वे भी दस्यु हैं।

ब्रह्माग्नि 'दस्युहन्तम' है। वह दस्युओं का अतिशय हनन करनेवाला है। उसके न्याय नियम उभय प्रकार के दस्युओं का हनन करते हैं। यहां 'दस्युहन्तम' से तात्पर्य विषय-विकार-वासना, आदि दस्युओं का नितान्त हनन—निर्मूलन करनेवाले ब्रह्माग्नि से है। जो भी अपने जीवन-सदन में ब्रह्माग्नि का प्रज्वलन करता है, उसके समस्त दस्यु सर्वथा निराकृत होजाते हैं।

ब्रह्माग्नि रण-रण [संग्राम-संग्राम] में धन-जय कराता है। अध्यात्म साधना के पथ पर विविध संग्राम हैं और प्रत्येक संग्राम का अपना-अपना विजित धन है। साधक जन ही जानते है कि साधना-पथ के पथिकों के जीवनों में इन्द्रिय-इन्द्रिय का पृथक्-पृथक् संग्राम है और प्रत्येक संग्राम की विजय में एक धन—धन्यता निहित है। जो साधक अपने जीवनों में ब्रह्माग्नि का प्रज्वलन करते हैं, इन्द्रिय-इन्द्रिय के संग्राम में उन्हें सुधन्यतारूपी धन प्राप्त होता है, विभूतिरूप ऐश्वर्य उपलब्ध होता है।

पाथ्य=पथारूढ़। वृषा=सींचनेवाला। जीवन की योग-पद्धति को अपनाकर योगपथ पर चलने-वाला व्यक्ति 'पाथ्य' है। जन-जन के, सर्वजनों के जीवन-पथों को योगामृत से जो सींचता है, वह 'वृषा' है। प्रत्येक योगसाधक एक 'पाथ्य वृषा' है और वह रण-रण में पग-पग पर ब्रह्माग्नि-प्रज्वलन के आश्रय से दस्युओं [जीवन-दोषों] का निराकरण करता हुआ विजय-सम्पादन करता है, सुधन्यता-धन की प्राप्ति करता है।

उस तुझ दस्युहन्तम
रण-रण में धनजयी को ही,

पाथ्य वृषा किया करता है
सम्यक् प्रज्वलित—प्रकाशित।

४६५ सीद होतः स्व उ लोके चिकित्वान्त्सादया यज्ञं सुकृतस्य योनौ।
देवावीर्देवान् हविषा यजास्यग्ने बृहद् यजमाने वयो धाः॥
[ऋ ३. २९. ८] य ११/३५

सीद होतः स्वे उ लोके चिकित्वान् सादय यज्ञम् सु-कृतस्य योनौ।
देव-अवीः देवान् हविषा यजासि अग्ने बृहत् यजमाने वयः धाः॥

'होतः' शब्द से सम्बोधन करती हुई वेदमाता पाथ्य वृषा से कहती है—

१) (होतः) ! ब्रह्माग्नि के प्रज्वलन के लिये (स्वे लोके उ सीद) स्व लोक में ही स्थित हो, आत्म-लोक में ही अवस्थित हो।

होता नाम आदाता [लेनेवाला], आह्वाता [बुलानेवाला], दाता [देनेवाला] का है। पाथ्य वृषा योगपथ पर आरूढ़ हुआ सर्व जनों के जीवनों को योगामृत से सींच रहा है। वह योग द्वारा ब्रह्म से जो-जो ब्राह्म सम्पदा प्राप्त करता है, सर्व जनों को बुला-बुलाकर उन्हें देता रहता है। इसी आशय से पूर्व-मन्त्र में उल्लिखित पाथ्य वृषा को इस मन्त्र में 'होतः' से सम्बोधन किया गया है।

हृदयाकाश में आत्मा का जो स्वलोक अथवा आत्मलोक है, उसमें चित्तवृत्तियों का निरोध करके होता जब संयम [धारणा, ध्यान, समाधि] द्वारा स्व-रूप में अवस्थित होता है, तब उसे आत्मदर्शन के साथ-साथ ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिये कहीं जाना-आना नहीं होता है, अपने आत्मलोक में आत्म-अवस्थित होना है।

२) (चिकित्वान्) ज्ञानी तू, योग के संज्ञान से सुविज्ञ तू (सु-कृतस्य योनौ) सुकृत की योनि में (यज्ञम् सादय) यज्ञ स्थापन कर।

संज्ञानी योगी के लिये उसका अपना मानव-जीवन सुकृत की योनि है, सुकर्मों का सुपावन मन्दिर है, सुसाधना का संदिव्य शिवालय है। वह उसमें यज्ञ स्थापन करता है। यज्ञ नाम 'श्रेष्ठतम कर्म' का है। श्रेष्ठतम कर्मों में भी योग सर्वतः श्रेष्ठ कर्म अथवा साधना है। योगी योग-जीवन-पद्धति से सुसज्ज होकर अपने जीवन-मन्दिर में सुयज्ञों की साध संजोता है। वह अपने जीवन को यज्ञशाला बनाता है।

३) (देव-अवीः) दिव्यताओं का रक्षण करनेवाला तू (हविषा देवान् यजासि) हवि से दिव्यताओं को यजता—व्यापता है।

जिस प्रकार अग्निहोत्र में होमी गयी हवियां सब ओर सुगन्धियां यजती—व्यापती हैं, उसी प्रकार योगी होता अपनी जीवन-यज्ञशाला में दिव्यताओं का सुरक्षण करता हुआ विश्व में दिव्यताओं का व्यापन करता है।

४) (अग्ने) पावक ! सुपावन प्रभो ! (यजमाने) यजमान में, योगयाग के याजक होता में (बृहत् वयः) बृहत् आयुष्य (धाः) स्थापन कर।

बृहत् नाम विशाल और व्यापक का है। योगी होता का जीवन सुदीर्घ तो हो ही, सुविशाल और व्यापक भी हो, जिससे मानव-प्रजा का अधिकाधिक हितसम्पादन हो सके। इसी आशय से जन-जन की प्रार्थना है—परमपावन प्रभो ! होता यजमान के जीवन में आयुष्य की सुदीर्घता के साथ विशालता और व्याप्ति भी हो।

होतः ! हो अपने ही लोक में
आत्म-अवस्थित ।
चिकित्वान् तू कर प्रस्थापन
यज्ञ सुकृत की योनि में ।
देवावी तू व्याप रहा है
आत्महवि से दिव्यताओं को ।
अग्ने ! धारण कर बृहत् आयु
योग-यज्ञ के यजमान में ।

सूक्ति—सीद होतः स्व उ लोके ।
योगिन् ! अपने निजलोक में ही आत्म-अवस्थित हो ।
सादया यज्ञं सुकृतस्य योनौ ।
सुकृत की योनि में यज्ञ स्थापन कर ।
अग्ने बृहद् यजमाने वयो धाः ।
पावन प्रभो ! यजमान में बृहत् आयुष्य धारण कर।

४६६ नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाँ असदत् सुदक्षः ।
अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वो अग्निः ॥
[ऋ २. ९. १] य ११/३६
नि होता होतृ-सदने विदानः त्वेषः दीदिवान् असदत् सु-दक्षः ।
अदब्ध-व्रत-प्रमतिः वसिष्ठः सहस्रम्-भरः शुचि-जिह्वः अग्निः ॥

पूर्व-मन्त्र में कहा गया था, 'सीद होतः स्व उ लोके'—होतः, आत्म-अवस्थित हो अपने ही लोक में । इस मन्त्र में बताया जारहा है कि कैसा होता अपने आत्मलोक में अवस्थित रहा करता है ।

(विदानः) ज्ञानी, (त्वेषः) प्रकाशमान्, सुन्दर, (दीदिवान्) देदीप्यमान्, (सुदक्षः) सुदक्ष, (अदब्ध-व्रत-प्रमतिः) अदब्ध-व्रत-सुमति से युक्त, (वसिष्ठः) वसिष्ठ, (सहस्रम्-भरः) हजारों का भरक, (शुचि-जिह्वः) शुचि-जिह्व, (अग्निः) पावक (होता) होता ही (होतृ-सदने) होतृ-सदन में (नि असदत्) नितराम् अवस्थित रहा करता है ।

पूर्व-मन्त्र में जिस मानव-योनि को 'सुकृत की योनि' कहा है, उसी को यहां 'होतृ-सदन' [होता का गृह] कहा गया है । जिस जीवन में और जिस जीवन से सुकृत किये जाते हैं, उससे बढ़कर न कोई यज्ञ है न यज्ञशाला, न साधना है न साधनाशाला ।

अपनी जीवनरूपी साधनाशाला में वह होता ही आत्म-अवस्थित रहता है जो हो—

१) (विदानः) ज्ञानी, विवेकी, तत्त्व को जाननेवाला ।
२) (त्वेषः) ब्रह्म-प्रकाश और आत्मसौन्दर्य से सम्पन्न ।
३) (दीदिवान्) सर्वतः देदीप्यमान् और तेजस्वी, ब्रह्मचर्य और ब्रह्मवर्च से उपेत ।
४) (सुदक्षः) सुदक्षता से सुयुक्त । दक्षता नाम क्षमता और व्याप्ति का है । क्षमता से ही व्याप्ति होती है ।
५) (अदब्ध-व्रत-प्रमतिः) व्रत और सुमति की अदब्धता [निर्बाधता] से युक्त । व्रतों का निर्बाध संवहन सुमति के सहचार से ही होता है । व्रत तथा सुमति की निर्बाधता किसी भी क्षेत्र में साफल्य की कुंजी है ।
६) (वसिष्ठः) वसु [प्राण] में स्थित, प्राणाचार में निहित । प्राण के समान जो निर्विश्राम, निर्विषय, निर्विकार और निरासक्त हो वह वसिष्ठ है ।
७) (सहस्रम्-भरः) हजारों का भरण करनेवाला, असंख्यों का उद्धार करनेवाला ।
८) (शुचि-जिह्वः) पवित्र-जिह्व ! जिह्वा ही रसना है । जिह्वा ही वाणी है । जिह्वा से चखा भी जाता है और बोला भी जाता है । जिसका स्वाद और वचन शुद्ध हो, जिसका भोजन और भाषण निर्मल और निर्विकार हो वह शुचि-जिह्व है ।

९) (अग्निः) पावक, अग्नि के समान पवित्र करनेवाला, जनजीवन को शुद्ध कुन्दन बनानेवाला।

ये नौ विशेषतायें जिस होता के जीवन में होती हैं, वही अपने जीवनलोक में समाहित रहता है।

विवेकी त्विषस्वी दीप्तिमय,
सुदक्ष अदब्धव्रतप्रमति,
वसिष्ठ सहस्रम्भर शुचिजिह्व,
पावक होता ही होतृसदन में
हुआ करता है आत्मसमाहित।

४६७ सं सीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः।
वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् ॥
[ऋ १.३६.९] य ११/३७

सम्-सीदस्व महान् असि शोचस्व देव-वीतमः। वि धूमम् अग्ने अरुषम् मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् ॥

पूर्व-मन्त्र में उल्लिखित नौ दिव्यताओं से संदिव्य होता के प्रति वेदमाता कहती है—

१) (देव-वी-तमः) दिव्यताओं से कान्ततम तू (सम्-सीदस्व) संस्थित हो; तू (महान् असि) महान् है, (शोचस्व) चमक, जगमगा, प्रकाश फैला।

योगपथारूढ़ होता को ब्रह्म से ब्राह्म सम्पदायें प्राप्त करते हुए उन्हें सर्व जनों को देते रहना है। आत्मसाधना और ब्रह्मोपासना द्वारा वह दिव्यताओं से कान्ततम अथवा दिव्यतम बना है। वेदमाता उसे उत्प्रेरित करती हुई कह रही है–(देव-वी-तमः) दिव्यताओं से दिव्यतम तू (सम्-सीदस्व) साधनाक्षेत्र में दृढ़ता के साथ डट जा; तू (महान् असि) महान् है, (शोचस्व) प्रकाश विकीर्ण कर।

साधनाक्षेत्र में स्थिरता के साथ स्थित रहने के लिये आत्मलघुता की नहीं, आत्ममहत्ता की भावना होनी चाहिये। आत्ममहत्ता की भावना से आत्मविश्वास, कर्मक्षमता तथा कर्मकुशलता की वृद्धि होती है। आत्ममहत्ता ही आत्मप्रकाश की निरुद्ध किरणों को सब ओर फैलाकर मानव-प्रजा के अज्ञानान्धकार को मिटाती है। इसी दृष्टि से कहा गया है—तू महान् है। जगमगा और प्रकाश विकीर्ण कर।

२) (अग्ने) पाप-ताप-दाहक! (मियेध्य) दुरित-विनाशक! (प्रशस्त) प्रशंसनीय! (अरुषम् दर्शतम् धूमम् वि सृज) अरुष और दर्शनीय धूम मचादे।

अरुष शब्द के दो अर्थ—'रोषरहित' और 'सुन्दर'—गहन तत्त्व के उद्‌बोधक हैं। रोषराहित्य में ही रूप-सुरूपता और सौन्दर्य का निवास है। रोष सौन्दर्य का विनाशक है। रोषरहित रहकर सतत साधना करने से ही संसार के सौन्दर्य का वर्धन होगा।

योगपथिक होता को 'प्रशस्त, मियेध्य अग्नि' बनकर विश्व के मानव-समाज में धूम मचानी है, वह धूम जो दर्शनीय होने के अतिरिक्त रोषरहित भी होगी, वह धूम जिससे विकार-वासनाओं का दहन और दुरितों का दलन होकर मानव-समाज में जीवन की योग-पद्धति का प्रचलन होगा, वह धूम जिससे मानवता की कुरूपतायें और कालिमायें धुलकर उसकी सुरूपताओं का निखार और ज्योत्स्नाओं का विस्तार होगा। वही होता प्रशस्त है जो ऐसी धूम मचाये।

दिव्यताओं से दिव्यतम तू,
हो सुसंस्थित, तू महान् है,
कर प्रकाश विकीर्ण।
प्रशस्त मियेध्याग्ने! धूम मचादे
अरुष और दर्शनीय।

सूक्ति—सं सीदस्व महाँ असि ।
संस्थित हो, तू महान् है ।

शोचस्व देववीतमः ।
दिव्यताओं से दिव्यतम तू प्रकाश फैला ।

४६८ अपो देवीरुपसृज मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः ।
तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः ॥ य ११/३८

अपः देवीः उप-सृज मधु-मतीः अ-यक्ष्माय प्र-जाभ्यः ।
तासाम् आ-स्थानात् उत्-जिहताम् ओषधयः सु-पिप्पलाः ॥

होता के प्रति अपनी उत्प्रेरणा को जारी रखती हुयी वेदमाता कहती है—

१) (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (अ-यक्ष्माय) अयक्ष्मार्थ (देवीः मधुमतीः अपः) दिव्य, मधुरीली धारायें (उप-सृज) प्रवाहित कर।

२) (तासाम् आ-स्थानात्) उन [धाराओं] के आस्थान—आश्रय से (सुपिप्पलाः ओषधयः) सुफला ओषधियां (उत्-जिहताम्) उगें।

यक्ष्म नाम क्षय रोग का है। यक्ष्म अथवा क्षय का अर्थ है क्षीण करनेवाला। जो कुछ भी मानव-प्रजाओं के जीवनों को क्षीण करनेवाला है, वह सब यक्ष्म है। व्यसन, विकार, विलास, असंयम, अनास्था, नास्तिकता, अधार्मिकता, आदि दोष-समूह वह यक्ष्म है, जो मानव-प्रजाओं के जीवनों को भोगरत करके उन्हें सर्वथा क्षीण कर देता हैं। परिणाम यह होता है कि मानवजीवनरूपी वृक्षों पर सुफला ओषधियों के स्थान पर कुफला विषबेलें छा जाती हैं, जिससे मानवप्रजाओं का भी और मानवता का भी सर्वनाश होजाता है।

योगपथारूढ़ होतृवर्ग प्रजाओं के अविनाशार्थं सर्वत्र योगवारि की उन दिव्य, सुमधुर धाराओं को प्रवाहित करे, जिनके आस्थान से प्रजाओं के जीवन सुफला ओषधियों से सुफलित होजायें, उनके जीवन ओषधिरूप होजायें, उनके जीवन दोषप्रसारक नहीं दोषनिवारक बन जायें।

प्रजाओं के अयक्ष्मार्थ तू
प्रवाहित कर
दिव्य, मधुर धारायें।
आस्थान से उनके उगें
सुफला ओषधियाँ।

सूक्ति—अपो देवीरुपसृज।
दिव्य धारायें प्रवाहित कर।
उज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः।
उगें ओषधियां सुफला।

४६९ सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातूत्तानाया हृदयं यद् विकस्तम् ।
यो देवानां चरसि प्राणथेन कस्मै देव वषडस्तु तुभ्यम् ॥ य ११/३९

सम् ते वायुः मातरिश्वा दधातु उत्तानायाः हृदयम् यत् वि-कस्तम् ।
यः देवानाम् चरसि प्राणथेन कस्मै देव वषट् अस्तु तुभ्यम् ॥

होतृवर्ग पृथिवी को सम्बोधन करता हुआ कहता है—सुफला ओषधियों से (यत्) जो (ते उत्-तानायाः) तुझ उत्-ताना का (विकस्तम् हृदयम्) खिला/विकसित हृदय/वक्षस्थल है, उसे (मातरिश्वा वायुः) अन्तरिक्षचारी पवन (सम् दधातु) संधारण—सम्पोषण करे।

पृथिवी का जो भाग समुद्रों के जलों से भरा रहता है वह अवताना है, जो भाग समुद्रों से ऊपर उठा रहता है और जिस पर मानव तथा इतर प्राणी निवास करते हैं वह उत्ताना है। अवताना

पृथिवी का जल मेघ बनकर उत्ताना पृथिवी के वक्षस्थल पर बरसता है। अन्नों, वनस्पतियों और ओषधियों को उगाने और पकाने वाला मातरिश्वा वायु उनके वर्धन और पोषण में योगदान करता है। उत्ताना पृथिवी का वक्षस्थल खिल उठता है। मानव-प्रजाओं तथा अन्य प्राणियों का सर्वतः संवर्धन और संविकास होता है। उभय तानाओं में जो भौमिक, भौतिक सम्पदायें हैं वे सब जीवन-रक्षणी तथा संवर्धनी हैं।

उसी प्रकार मानव-जीवन की दो भूमियां हैं—अवताना तथा उत्ताना। शरीर अवताना भूमि है, आत्मा उत्ताना। दोनों के संयोग का ही नाम जीवन है, अन्तरिक्षीय पवन प्राण बनकर जिसका सम्पोषण करता है। शरीर साधना का साधन है। आत्मा साधक है। शरीर जब विकसित होता है, तब आत्मोन्नति की साध अथवा योगसाधना सम्पुष्ट होती है और तब ही होता प्राणवत् योग-जीवनपद्धति का प्रसार करता है।

होता प्राणवत् निर्विश्राम, निर्विषय, निर्विकार और निरासक्त होकर प्रजाओं के अयक्ष्मार्थ दिव्य, मधुर धारायें प्रवाहित करता है। उसके परिणाम-स्वरूप जन-जीवन ओषधिरूप सुफला शुभगुणश्रियों से युक्त होते हैं। होता दिव्यताओं से युक्त, संदिव्य जीवन से उपेत हुआ प्राणवत् चरण—आचरण—विचरण करता है, मानव-प्रजाओं को योगमय जीवन से सुयुक्त करता है और प्रजायें स्नेहस्निग्ध होकर उसके प्रति 'स्वाहा-वचन' बोलती हैं, उसके चरणों में स्व-सर्वस्व अर्पण करती हैं। इसी भाव के व्यक्तिकरण के लिये पृथिवी पर निवास करने-वाली मानव-प्रजाओं के मुख से कहलवाया गया है—(देव) दिव्यताओं से संदिव्य होतः! (यः) जो तू (देवानाम्) दिव्यताओं के (प्राणथेन) प्राणथ—प्राणन—संजीवन से [युक्त होकर प्राणवत्] (चरसि) चरण—विचरण—आचरण कर रहा है, सर्वत्र दिव्यानन्दों की व्याप्ति कर रहा है, उस (तुभ्यम् कस्मै) तुझ आनन्दमय के लिये [हमारा] (वषट् अस्तु) स्वाहा-वाद् हो, सर्वस्व सुहुत—अर्पित हो।

जब उत्ताना का हृदय विकसित हो,
करे मातरिश्वा वायु संचारण।
देव! जो तू विचरण करता है
दिव्यताओं के संजीवन से,
स्वाहा-वाद् हो,
तुझ आनन्द-प्रदाता के प्रति।
सूक्ति—कस्मै देव वषडस्तु तुभ्यम्।
देव! तुझ आनन्दमय के लिये स्वाहा-वाद् हो।

४७० सुजातो ज्योतिषा सह शर्म वरूथमासदत् स्वः। वासो अग्ने विश्वरूपं संव्ययस्व विभावसो॥
य ११/४०

सु-जातः ज्योतिषा सह शर्म वरूथम् आ-असदत् स्वः। वासः अग्ने विश्व-रूपम् सम्-व्ययस्व वि-भा-वसो॥

(सु-जातः) सु-जात (ज्योतिषा सह) ज्योति के साथ (शर्म वरूथम् स्वः) शर्म, वरूथ और स्वः [में] (आ-असदत्) विराजा हुआ है, संस्थित है।

जिस होता को पूर्व-मन्त्र में 'देव' शब्द से सम्बोधन किया गया है, उसी के लिये यहां 'सुजात' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'सुजात' का अर्थ है सुप्रकाशित, सुन्दर, कुलीन। जो सुप्रकाशित है, वही सुन्दर है, वही कुलीन है। प्रकाश में ही सौन्दर्य है, प्रकाश में ही कुलीनता है।

सुप्रकाशित, सुसुन्दर, सुकुल होता ज्योति से युक्त होकर शर्म, वरूथ और स्वः में संस्थित है।

शर्म नाम गृह, मन्दिर और सुख का है। शर्म शब्द का प्रयोग सर्वत्र जीवनरूपी उस गृह अथवा मन्दिर के लिये होता है, जिसमें इन्द्रियों का स्वामी आत्मा सतत सन्तत सुख का सेवन करता है। होता अपने जीवन-शर्म में अन्तर्मुख

होकर आसीन है और अनवरत सुख का आस्वादन कर रहा है। सचमुच अन्तर्मुखता में जो सतत आनन्द है, वह बाह्यमुखता में कहां!

वरूथ नाम कवच का है। कवच संग्राम में शस्त्रास्त्रों के प्रहार से रक्षा करता है। सदाचार और संयम से सुपोषित और संज्ञान से समुज्ज्वल जीवन की अन्तः बाह्य पवित्रता ही वह कवच है जो होता की सर्वत्र सर्वतः रक्षा करता है।

स्वः नाम आनन्द का है। जिस होता के जीवन में शर्म और वरूथ का संयोग है, वहां सदैव आनन्द ही आनन्द है। अन्तर्मुखता और पवित्रता का संयोग आनन्दयोग की कुञ्जी है।

पूर्वमन्त्रानुसार मानव-प्रजायें होता के प्रति 'स्वाहा-वचन' उद्घोषित कर रही हैं, उसके चरणों में स्व-सर्वस्व समर्पित कर रही हैं। होता ज्योति से सुप्रकाशित हुआ शर्म, वरूथ और स्वः में संस्थित है। उसका वर्च और सुयश फैलता जारहा है। अहंकार और अहम्मन्यता से, अपि च स्वार्थ और संकोच से उसकी रक्षा के भाव से वेदमाता प्रचेतनामय उत्प्रेरणा करती हुई उससे कहती है—(वि-भा-वसो अग्ने) वि-प्रकाश-धन अग्ने! (विश्व-रूपम् वासः सम्-व्ययस्व) विश्व-रूप वास सं-धारण कर।

योगप्रसारक होता का वसु [धन] है विभा [वि-प्रकाश]। वह है विविध प्रकाशों तथा प्रज्ञाओं से युक्त वह संज्ञानाग्नि, जो मानवों के मानसों को शोधता हुआ उन्हें योगपथारूढ़ बनाता चला जारहा है।

वास का अर्थ है वस्त्र, पोशाक, बाना। 'विश्व-रूप वास' उस पोशाक का नाम है, जिसे पहनकर योगी विश्वरूप होजाता है और संसार उसे आत्मनिजता के साथ अपनाता है। 'सम्पूर्ण पृथिवी मेरा घर है और उस पर निवास करनेवाली समग्र मानव-प्रजा मेरा परिवार है,' यह सार्वभौम भावना ही 'विश्वरूप वास' है। इस विश्वरूप पोशाक को पहनकर जब होतृवर्ग देश-देशान्तर में विचरण करेगा, तब ही विश्व का जीवन योगमय बनेगा।

तू सुजात ज्योति-सह संस्थित
शर्म, वरूथ और स्वः में।
विभावसो अग्ने! पहन तू
विश्वरूप पोशाक।

सूक्ति—वासो अग्ने विश्वरूपं संव्ययस्व।
ज्ञानिन्! विश्वरूप पोशाक पहन।

४७१ उदु तिष्ठ स्वध्वरावा नो देव्या धिया।
दृशे च भासा बृहता सुशुक्वनिराग्ने याहि सुशस्तिभिः ॥
[ऋ ८. २३. ५] य ११/४१
उत् उ तिष्ठ सु-अध्वर अव नः देव्या धिया।
दृशे च भासा बृहता सु-शुक्वनिः आ अग्ने याहि सु-शस्तिभिः ॥

भोगवाद से अशान्त संसार विश्वरूप पोशाक धारण करनेवाले योगप्रसारक होता का आह्वान कर रहा है—

१) (सु-अध्वर)! (उ) ठुक (उत् तिष्ठ) खड़ा हो, (देव्या धिया) दिव्य धारणा से (नः अव) हमें बचा, हमारी रक्षा कर।

अध्वर नाम उस साधक का है जो बिना ध्वर, बिला नागा, बिना व्यवधान सतत साधना करता है। अध्वर का दूसरा अर्थ है निश्छल, निष्कपट, अहिंसक। पूर्व-मन्त्र में जिस होता को सुजात, विभावसु अग्नि कहा गया है, उसे ही यहाँ 'स्वध्वर' [सुष्ठुतया सतत साधना करनेवाला] कहा गया

है। धारणा से सब कुछ धारण होता है। योग में धारणा संयम का आधार है। धारणा से ध्यान और ध्यान से समाधि सिद्ध होती हैं। धारणा, ध्यान और समाधि के संयोग का ही नाम संयम है। 'स्वध्वर! खड़ा हो। अपनी दिव्य धारणा से हमें संयमयोग में संस्थित करके हमारी रक्षा कर।' योग के द्वारा ही भोग के अभिशापों से मानव-समाज की रक्षा होगी।

२) (च) और (अग्ने) सूर्य के समान प्रकाशपुञ्ज! (सु शुक्वनि:) सुकान्त, सुशुद्ध तू (दृशे) दर्शनार्थ (बृहता भासा) महान् प्रकाश के साथ, (सु-शस्तिभि:) सु-शस्तियों, प्रशस्तियों के साथ (आ याहि) आ।

स्वध्वर का दिग्दिगन्त में वर्च और यश व्यापता चला जा रहा है। दूर-निकट, सर्वत्र उसकी प्रशस्तियां होरही हैं। सूर्याग्नि का-सा उसका योगप्रकाश व्यापता चला जारहा है। सर्वत्र मानवों में उसके दर्शन की अभिलाषा उमड़ रही है। स्थान-स्थान से, देशदेशान्तर और द्वीपद्वीपान्तर से उसे आत्मनिजतापूर्ण निमन्त्रण आरहे हैं, 'सूर्याग्नि के समान योग के विशाल प्रकाश से प्रकाशित और सम्पूर्ण प्रशस्तियों से प्रशस्त, संशुद्ध—सुकान्त स्वध्वर! टुक आ। हमें दर्शन दे। यहां के हम सर्व जनों को अपने दर्शन से कृतार्थ कर, हमारे जीवन का योग-पथ प्रशस्त कर। भोग-भ्रष्टता से मुक्त करके हमें योग के सुपथ पर आरूढ़ कर।'

खड़ा हो टुक, स्वध्वर, रक्षा कर,
दिव्य धारणा से हमारी।
और, अग्ने, सुकान्त—शुद्ध तू
दर्शनार्थ आ,
प्रचुर प्रकाश-प्रशस्तियों-सहित।

सूक्ति—उद्‌ तिष्ठ स्वध्वर।
सुसाधक! टुक खड़ा हो।
अवा नो देव्या धिया।
दिव्य धारणा से हमारी रक्षा कर।
आग्ने याहि सुशस्तिभिः।
प्रकाशपुञ्ज! प्रशस्तियों के साथ आ।

४७२ ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता।
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे॥
[ऋ १. ३६. १३, सा ५७] य ११/४२

ऊर्ध्वः उ सु नः ऊतये तिष्ठ देवः न सविता।
ऊर्ध्वः वाजस्य सनिता यत् अञ्जिभिः वाघत्-भिः वि-ह्वयामहे॥

पूर्व-मन्त्रानुसार निमन्त्रित हो-होकर स्वध्वर जहां-जहां जाता है, वहीं उसका सार्वजनिक स्वागत करते हुए जननायक उसकी सेवा में विनय करता है—हम (यत्) जब-जब [तुझे] (वि-ह्वयामहे) बुलाते हैं, आमन्त्रित करें, तब-तब (वाजस्य ऊर्ध्वः सनिता) वाज का उच्च संविभाजक तू (देवः सविता न उ) देव सविता के समान ही (अंजिभिः वाघत्-भिः) प्रकाशमयी मेधाओं-सहित, प्रज्ञामयी प्रज्ञानरश्मियों-सहित (नः ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (ऊर्ध्वः सु तिष्ठ) ऊपर प्रतिष्ठित हो, शिरोधार्य हो।

वाज नाम ज्योति, शक्ति और संग्राम का है। किसी भी प्रकार के संग्राम में विजय-सम्पादनार्थ ज्योति और शक्ति की अनिवार्यता प्रत्यक्ष है। फिर राष्ट्र-राष्ट्र की समग्र मानव-प्रजा में योग-जीवनपद्धति की प्रस्थापना का संग्राम तो सर्वोपरि सुधन्य संग्राम है। उसके लिये स्वध्वर होता को वाज का उच्च कोटि का सनिता [वितरक] होना

ही चाहिये।

सविता शब्द का प्रयोग यहां सूर्य के लिये हुआ है। देव सविता अथवा दिव्य सूर्य के उदयन से जिस प्रकार अन्धकार का नाश और प्रकाश का प्रसार होता है, उसी प्रकार स्वध्वर होता की प्रज्ञामयी प्रज्ञानकिरणें मानव-मानव के भोगतिमिर को तिरोहित करके योगप्रकाश का प्रकाशन करती हैं। यही मानव-समाज की वास्तविक रक्षा है। भोग विनाश का पथ है। योग में ही मानव-जाति की रक्षा और त्राण निहित है।

जननिमन्त्रण पर जब जहां स्वध्वर होता का आगमन होता है, तब तहां जनता उसे शिर-आखों पर बिठाती है और उसका अभिनन्दन करती है—

जब-जब तुझे बुलायें हम यहां,
तब-तब उच्च वाज-सनिता तू,
दिव्य सूर्य के समान ही,
प्रज्ञामयी रश्मियों-सहित,
सदैव ऊर्ध्वतः प्रतिष्ठित हो,
हमारी रक्षा के हेतु।

४७३ स जातो गर्भो असि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृत ओषधीषु।
चित्रः शिशुः परि तमांस्यक्तून् प्र मातृभ्यो अधि कनिक्रदद् गाः॥
[ऋ १०.१.२] य ११/४३

सः जातः गर्भः असि रोदस्योः अग्ने चारुः वि-भृतः ओषधीषु।
चित्रः शिशुः परि तमांसि अक्तून् प्र मातृभ्यः अधि कनिक्रदत् गाः॥

पूर्व-मन्त्र में स्वध्वर होता के प्रति कहा गया है, 'दिव्य सूर्य के समान ही, प्रज्ञामयी रश्मियों-सहित, सदैव ऊर्ध्वतः प्रतिष्ठित हो, हमारी रक्षा के हेतु।' इस मन्त्र में स्वध्वर अपने उपमान देव सूर्य को सम्बोधन करके कहने लगता है—

१) (अग्ने) सूर्याग्ने! (सः) वह तू (ओषधीषु वि-भृतः) ओषधियों में वि-धारित और (रोदस्योः) द्यौ-भू का (जातः) प्रकाशित, (चारुः) सुन्दर, (चित्रः) शोभनीय (गर्भः शिशुः असि) गर्भस्थ शिशु है।

अन्नों, वनस्पतियों तथा ओषधियों का परिपाक तथा पोषण उनमें विधारित सूर्य की रश्मियों से होता है। सूर्य द्यौ और पृथिवी के गर्भ [बीच] में प्रकाशित, सुन्दर, शोभनीय शिशु के समान प्रियता के साथ स्थित है।

२) तू (मातृभ्यः) भूमि-माता की प्राणी-प्रजाओं के लिये (तमांसि) अन्धकारों को, (अक्तून्) रात्रियों को (अधि कनिक्रदत्) अति-क्रमण करता हुआ, तिरोहित करता हुआ (परि प्र गाः) परिक्रमण किया करता है, घूमा करता है।

सूर्य अपनी परिधि पर अनवरत घूमता हुआ अन्धकारों तथा रात्रियों का निराकरण करता रहता है।

स्वध्वर के इस सूर्य-सम्बोधन में एक गहन भावना अन्तर्निहित है। 'जिस प्रकार सूर्य ओषधियों में धारित होकर उनका परिपाक और परिपोषण करता है, उसी प्रकार मैं भी ओषधिरूप योग-साधनाओं द्वारा मानव-जीवनों का परिपाक तथा परिपोषण करूं। जिस प्रकार सूर्य द्यौ-भू के गर्भ में प्रकाशित, सुन्दर, शोभनीय शिशु के समान प्रिय प्रतीत होता है, उसी प्रकार मैं भी नरों और नारियों के मध्य साक्षात् चारु, चित्र शिशु के समान प्रियता को प्राप्त रहूं। जिस प्रकार सूर्य अपनी परिधि पर अनवरत घूमता हुआ भूमि माता की प्रजाओं के हितार्थ अन्धकारों और रात्रियों का सतत निराकरण करता रहता है, उसी प्रकार मैं

भी सतत साधरत रहता हुआ निरन्तर मानवों के तमों [तामसी वृत्तियों] और अज्ञानरात्रियों का निवारण करता रहूं।'

सूर्याग्ने !
वह तू ओषधियों में धारित,
द्यौ-भू का प्रकाशित, सुन्दर,
शोभनीय गर्भस्थ शिशु है।
अन्धकारों को, रात्रियों को,
सतत निवारण करता हुआ,
परिक्रमण करता रहता है।

४७४ स्थिरो भव वीड्वङ्ग आशुर्भव वाज्यर्वन्। पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहणः॥
य ११/४४

स्थिरः भव वीडु-अङ्गः आशुः भव वाजी अर्वन्। पृथुः भव सु-सदः त्वम् अग्नेः पुरीष-वाहनः॥

सूर्य-सम्बोधन के उपरान्त स्वध्वर होता आत्म-स्थिरता के लिये आत्म-सम्बोधन करने लगता है—
१) (अर्वन्) !
२) (वीडु-अंगः स्थिरः भव) दृढ़-अंग और स्थिर हो।
३) (आशुः वाजी भव) शीघ्रकारी और वाजोपेत हो।
४) (पृथुः सु-सदः भव) विस्तारमय और सुस्थित हो।
५) (त्वम् अग्नेः पुरीष-वाहनः) तू प्रकाशस्वरूप परमात्मा का पुरीष-वाहक है।

अर्वा नाम उस अतिशय तीव्रगामी अश्व का है, जो बिना रुके बड़ी-बड़ी लम्बी दौड़ें करता है और अभीष्ट स्थान पर पहुँच कर ही दम लेता है। अपने आपको 'अर्वा' कहकर स्वध्वर अतिशय तीव्रगति से विश्वभ्रमण तथा सार्वभौम साधना के लिये अपने आत्मा को उत्प्रेरित तथा उत्साहित कर रहा है।

योग-जीवनपद्धति की विश्वव्यापी दुस्तर साधना की संसिद्धि के लिये उसे शरीर से दृढ़—सुदृढ़ अंगोंवाला और आत्मा से स्थिर—सुस्थिर रहना ही चाहिये।

इतनी विशाल साधना की सम्पूर्ति के लिये उसके शीघ्रकारी और वाजोपेत रहने की प्रत्यक्ष आवश्यकता है। अनलस शीघ्रकारिता और वाजोपेतता से ही स्वध्वर की साध पूर्णता प्राप्त कर सकेगी।

वाज नाम ज्योति, शक्ति और संग्राम का है। स्वध्वर की साध एक महत्तम संग्राम है, जिसमें ज्योति और शक्ति के आश्रय से ही विजय होगी। ज्योति और शक्ति से सुसज्ज होकर जो संग्राम करता है, उसे वाजी कहते हैं। स्वध्वर के लिये वाजी शब्द का प्रयोग सर्वथा सार्थक है।

ज्योति और शक्ति के पुञ्ज वाजी को विस्तारमय और सुस्थित भी होना चाहिये, संकुचित और चंचल नहीं। विस्तृत विशाल पृथिवी उसका कार्यक्षेत्र है और अपने आपमें पूर्णतया संस्थित होकर ही उसे कार्य करना है।

वैदिक वाङ्मय में पुरीष नाम श्री और दक्षिणा [व्याप्ति] का है। मन्त्र में स्वध्वर वाजी को प्रकाशस्वरूप परमात्मा का पुरीषवाहक कहा गया है। वाजी विश्व में परमात्मा की व्यापक श्री का संवहनकर्ता है। विश्व में व्यापी प्रभु की श्री का सन्देश देना और मानुषी प्रजाओं को योगश्री अथवा ब्रह्मश्री से अलंकृत करना उसकी सुपावन साध है।

अर्वन्,
दृढ़ांग और स्थिर रह,
रह शीघ्रकारी वाजी तू,
रह सुविस्तृत और संस्थित,

तू पुरीष-वाहक अग्नि का।
सूक्ति—स्थिरो भव।
स्थिर रह।

त्वमग्नेः पुरीषवाहणः।
तू प्रभु का पुरीषवाहक है।
तू प्रभु की श्री का संवाहक है।

४७५ शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः।
मा द्यावापृथिवी अभिशोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीन्॥ य ११/४५
शिवः भव प्रजाभ्यः मानुषीभ्यः त्वम् अङ्गिरः।
मा द्यावापृथिवी अभि-शोचीः मा अन्तरिक्षम् मा वनस्पतीन्॥

आशु वाजी देश-देश, प्रदेश-प्रदेश में योग-जीवन-पद्धति के प्रसार के लिये जाता है, सर्वत्र मानुषी प्रजाओं को योग के कल्याणकारी मंगलपथ पर आरूढ़ करता है, तीनों लोकों में सन्तापरहित सुख, शान्ति, स्वस्ति की भरपूरिता होती है, आकाश से अमृतमय जलों की सुवृष्टियां होती हैं, वनस्पतियां-ओषधियां-अन्नसम्पदायें प्रचुरता के साथ फूलती-फलती-फैलती हैं। इसी सुन्दर सुस्थिति के प्रकाशन के लिये वेदमाता ने यहां वाजी के प्रति जनमुख से कहलवाया है—

१) (अंगिरः) प्राणप्रिय ! (त्वम् मानुषीभ्यः प्रजाभ्यः शिवः भव) मानुषी प्रजाओं के लिये कल्याणकारी—मंगलप्रद हो।

२) तू (मा द्यावापृथिवी अभि-शोचीः) न द्यौ-भूमि को सन्तप्त कर (मा अन्तरिक्षम्) न अन्तरिक्ष को, (मा वनस्पतीन्) न वनस्पतियों को।

मानव-प्रजायें जब योग के शिव पथ पर चलती हैं तो तीनों लोकों में सन्तापरहित हर्ष, प्रसन्नता और आनन्द की वृष्टियां होती हैं, सब ओर सब प्रकार की समृद्धियां सिद्ध होती हैं, निकामे-निकामे वर्षा होती है, वनस्पतियां उगती और लहलहाती हैं।

मानव-प्रजायें जब भोग के धधकते हुये अशिव पथ पर चलती हैं तो सारी प्रकृति प्रकुपित हो उठती है। परिणामस्वरूप तीनों लोकों में शोक, सन्ताप, विलाप छाता है, अनावृष्टियां होती हैं, अकाल-दुष्काल घेरा डालते हैं।

प्राणप्रिय,
तू मंगलप्रद हो,
मानुषी प्रजाओं के लिये।
न सन्तप्त कर द्यौ-भू को,
न अन्तरिक्ष को,
न वनस्पतियों को।
सूक्ति—शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यः।
मंगलकारी हो मानुषी प्रजाओं के लिये।

४७६ प्रैतु वाजी कनिक्रदन्नानदद् रासभः पत्वा। भरन्नग्निं पुरीष्यं मा पाद्यायुषः पुरा।
वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भं समुद्रियम्। अग्न आयाहि वीतये॥ य ११/४६
प्र-एतु वाजी कनिक्रदत् नानदत् रासभः पत्वा। भरन् अग्निम् पुरीष्यम् मा पादि आयुषः पुरा।
वृषा अग्निम् वृषणम् भरन् अपाम् गर्भम् समुद्रियम्। अग्ने आ-याहि वीतये॥

वाजी होता, मानुषी प्रजाओं के कल्याणार्थं, जब एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रस्थान करता है तो वेदमाता विदाई की वेला में जनमुख से उसके प्रति शुभ कामनायें व्यक्त कराती है—

१) यह (रासभः पत्वा वृषा वाजी) सुभाषी तीव्रगामी वर्षणशील वाजी (कनिक्रदत्) गर्जता हुआ, (नानदत्) नाद करता हुआ, (पुरीष्यम् अग्निम् भरन्) श्रीकर प्रेमाग्नि को धारण करता

हुआ, (अपाम् वृषणम् गर्भम्) ज्ञानप्रवाहों के वर्षणशील गर्भ को तथा (समुद्रियम् अग्निम्) समुद्रिय अग्नि को (भरन्) धारण करता हुआ (प्र-एतु) प्रगमन करे, एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश को जाये।

'रास्' शब्दे धातु से रासभ शब्द का जन्म हुआ है। समाधानकारक शब्दों में भाषण करनेवाले का नाम रासभ है। वाजी होता वह रासभ है जिसके भाषण से संशयों का निवारण और भ्रम-भ्रान्तियों का निराकरण होता है।

पत्वा=पत्+वा (वन्)। झपाटे के साथ सवेग तूफ़ानी भ्रमण जो करता है, उसे पत्वा कहते हैं। वाजी होतृवर्ग विशाल पृथिवी पर तीव्रता के साथ योगप्रचार-यात्रायें करता है। तभी देश-देश की प्रजा का योगीकरण हो पायेगा।

समुद्रिय अग्नि ही है जो समुद्र को तपाकर, उसके जलों को क्षाररहित करके बादलों के रूप में आकाश में उड़ाता है और वृष्टि कराता है। ज्योति और शक्ति से सम्पन्न वाजी ही है जो मानवों को भोग-विलासरूपी क्षार से मुक्त करके उन्हें योग के उच्च सोपान पर चढ़ाता है और मानव-समाज में सुख-सौभाग्य के बादल उमड़ाता है।

'सुभाषी तीव्रकारी वर्षणशील वाजी ज्ञानगर्जन और विवेकनाद करता हुआ, सर्वार्थ श्रीकर प्रेमाग्नि को अपने हृदय में संजोये हुये, सुख-सौभाग्य की सुवृष्टि करनेवाले ज्ञानप्रवाहों के गर्भ को अपने मस्तिष्क में भरे हुये, अपनी भावना और साधना में समुद्रिय अग्नि धारण किये हुये, सर्वत्र गमनागमन करता है और मानव-समाज को क्षाररहित करके उनका योगक्षेम तथा योगोदय करता है।'

२) (आयुषः पुरा मा पादि) आयु से पूर्व मत प्रयाण कर। यह शुभकामनापूर्ण आशीर्वाद है। मानव का पूर्ण आयुष्य सौ वर्ष का माना गया है। वाजी सौ वर्ष के पूर्ण आयुष्य से पूर्व शरीर-त्याग न करे।

३) (अग्ने) प्रकाशपुञ्ज! (वीतये) व्यापने के लिये (आ-याहि) आ-जा।

अग्नि अपने प्रकाश से सर्वत्र व्यापता है। अग्निवत् योगप्रकाश की व्याप्ति के लिये वाजी सर्वत्र आये-जाये। देशाटन तथा विश्वयात्रा से ही आत्मज्ञान तथा योगज्योत्स्ना की संव्याप्ति होती है।

करे प्रगमन रासभ पत्वा वृषा वाजी,
करता हुआ नाद और गर्जन,
धारण करता हुआ श्रीकर प्रेम-अग्नि को,
भरता हुआ ज्ञानप्रवाहों के सुगर्भ को,
और समुद्रिय अग्नि को।
मत प्रयाण कर पूर्व आयु से,
अग्ने! व्याप्ति के लिये आ-जा।

४७७ ऋतं सत्यमृतं सत्यमग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद् भरामः।
ओषधयः प्रतिमोदध्वमग्निमेतं शिवमायन्तमभ्यत्र युष्माः।
व्यस्यन् विश्वा अनिरा अमीवा निषीदन् नो अप दुर्मतिं जहि॥ य ११/४७

ऋतम् सत्यम् ऋतम् सत्यम् अग्निम् पुरीष्यम् अंङ्गिरःवत् भरामः। ओषधयः प्रति-मोदध्वम् अग्निम् एतम् शिवम् आ-यन्तम् अभि अत्र युष्माः। वि-अस्यन् विश्वाः अन्-इराः अमीवाः नि-सीदन् नः अप दुःमतिम् जहि॥

प्रगमन करता हुआ वाजी जहां भी जाता है, सभी देव-देवियां उसका स्वागत करते हुये कहते हैं—

१) हम (भरामः) धारण—शिरोधार्य करते हैं (ऋतम् सत्यम्) ऋत और सत्य, (ऋतम् सत्यम्) ऋताचारी और सत्याचारी, (पुरीष्यम्) श्रीकर (अग्निम्) अग्नि को (अंगिरःवत्) आत्म-वत्, आत्मा

के समान।

पावक और प्रकाशक होने से वाजी के लिये यहां अग्नि शब्द का प्रयोग हुआ है। मानव-समाज का अग्र-नायक होने से भी वह अग्नि है। योग का प्रज्वलनकर्ता होने से भी वह अग्नि है।

ऋत का अर्थ है 'राइट' [right] सही। ऋत का उलटा है अनृत [not-right, wrong], ग़लत। वाजी अग्नि वह ऋताचारी है जिसकी प्रत्येक गति, चेष्टा, कृति, पग—सब कुछ ऋत [सही] है। वह कभी कोई ग़लती नहीं करता है। वह साक्षात् ऋत है। उसके जीवन में सब कुछ उचित और सार्थक हो है, अनुचित और निरर्थक कुछ नहीं।

जो आचार से ऋत होता है, वही वाणी से सदा सत्य बोलता है। उसकी वाणी से कभी भूलकर भी असत्य का उच्चारण नहीं होता है। उसका चिन्तन, भाषण तथा कर्म नितान्त सत्य होता है। वह साक्षात् सत्य होता है।

ऋत और सत्य के संगम पर ही श्री निवास करती है। श्री नाम शोभा, सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य का है। सच्ची शोभा, सच्चा सौन्दर्य और सच्चा ऐश्वर्य वहीं है, जहां ऋताचार और सत्याचार का संयोग है। ऋत-सत्य-श्रीयुक्त प्रकाशपुञ्ज योग-साधक निस्सन्देह सर्वत्र आत्मवत् शिरोधार्य किया ही जाता है।

२) (ओषधयः) ओषधिरूप प्रजाओ! ओषधिवत् दोषरहित जनो! (युष्माः अभि) तुम्हारे अभिमुख (अत्र आ-यन्तम्) यहां आते हुये (एतम् शिवम् अग्निम्) इस कल्याणकर प्रकाशपुञ्ज को (प्रति-मोदध्वम्) प्रत्येकशः हर्षित करो, प्रतिशः आनन्दित करो, सब प्रकार प्रमुदित रखो।

प्रकाशपुञ्ज योगप्रसारक के प्रति जनता का प्रेम और व्यवहार सर्वथा निर्दोष, निश्छल और निर्विकार रहना चाहिये। साथ ही जनता की ओर से उसके खान-पान की व्यवस्था ऐसी ओषधिरूप हो कि उसका स्वास्थ्य तथा सौन्दर्य अक्षुण्ण और उसकी प्रकृति सत्त्वसम्पन्न तथा सम रहे। वह जब भी जनाभिमुख हो, सर्व जन उसे ओषधिरूप भावना से निरखें और उसका ससम्मान आतिथ्य करें। सद्व्यवहार तथा सनिष्ठ सेवा से सब उसे प्राह्लादित रखें।

३) (नः) हमारे (विश्वाः अन्-इराः अमीवाः) सब अन्-अन्नों [अभक्ष्यों—व्यसनों] और रोगों को (वि-अस्यन्) फेंकता / दूर करता हुआ, [हमारे] (नि-सीदन्) निकट स्थित हुआ, [हमारी] (दुर्मतिम्) कुमति को (अप जहि) पृथक् कर, नष्ट कर।

प्रत्यक्षतः व्यसन और रोग योग-जीवनपद्धति में बाधक हैं। अतः अग्निरूप योगी सर्व जनों को व्यसनों और रोगों से मुक्त करते हैं, जिसका एकमात्र साधन है दुर्मति का सुमति में परिणत करना। इस साध की सिद्धि के लिये उसे जनता के निकट सम्पर्क में रहना होगा। दुर्जनों के निकट सम्पर्क से जहां दुर्मतिजन्य व्यसन-विलासों तथा भोग-रोगों की वृद्धि होती है, वहां सुजन योगियों के सम्पर्क से सुमतिजन्य शुद्धाहार तथा सुस्वास्थ्य का सुसम्पादन होकर जीवन की योगपद्धति का प्रशस्तीकरण होगा।

शिरोधार्य हम करते हैं
ऋत और सत्य से युक्त,
ऋताचारी और सत्याचारी,
श्रीकर अग्नि को अंगिरस्वत्।
ओषधियो! करो प्रहर्षित,
आते हुये यहां तुम्हारे अभिमुख,
इस शिव अग्नि को।
दूर फेंकता हुआ हमारे
सब व्यसनों को और रोगों को,
निकट विराजता हुआ,
नष्ट कर दुर्मति को।
सूक्ति—नो अप दुर्मतिं जहि।
हमारी दुर्मति को दूर कर।

४७८ ओषधयः प्रतिगृभ्णीत पुष्पवतीः सुपिप्पलाः । अयं वो गर्भ ऋत्वियः प्रत्नं सधस्थमासदत् ॥
य ११/४८

ओषधयः प्रति-गृभ्णीत पुष्प-वतीः सु-पिप्पलाः । अयम् वः गर्भः ऋत्वियः प्रत्नम् सध-स्थम् आ-असदत् ॥

अपने स्वागत-सुवचनों को जारी रखते हुये देव-देवियां कहे चले जारहे हैं—

१) (पुष्प-वतीः) पुष्पों के समान मधु और सुगन्धि से आपूर, (सु-पिप्पलाः) सु-फला, सुफलों—सुसौभाग्यों से सम्पन्न (ओषधयः) ओषधिरूप प्रजाओ ! (वः) तुम्हारा (अयम्) यह [योगप्रसारक अग्नि] (ऋत्वियः गर्भः) ऋत्वीय गर्भ है, नव ऋतु अथवा नव युग का निर्माणकेन्द्र है। इसे (प्रति-गृभ्णीत) प्रति-ग्रहण/समादृत करो।

देव-देवियों की इस उक्ति में एक मांगलिक भावना निहित है। ऋतु-ऋतु के गर्भ में एक विशेष सम्पदा निहित होती है जिससे सम्पन्न होकर वनस्पतियां प्रथम पुष्पवती होती हैं, फिर ओषधिरूप सुफलों से सुफला होती हैं। एवमेव योगप्रसारक अग्नि भी विशेष ऋतु अथवा नव युग की एक विशेषातिविशेष सम्पदा है, जिसके सम्पर्क से देश-देश की मानव-प्रजायें पुष्प के समान मधु [मधुरता] और सुगन्धि [अध्यात्मसुरभि] से सुसम्पन्न हो-होकर ओषधिरूप [मल-विक्षेप-निवारक] सुफलों अथवा योगविभूतियों से सम्पन्न होरही हैं। प्रत्येक मानव ऐसे महामानव का स्वागत और सत्कार करके पुण्य लाभ करे।

२) ओषधिरूप प्रजाओ ! यह योगप्रसारक अग्नि (प्रत्नम् सध-स्थम् आ-असदत्) सनातन सह-स्थान पर स्थित—समाहित हुआ-हुआ है।

इस परिचायक उक्ति में योगप्रसारक महामानव की महासाध का द्योतन है। योगप्रसारक सनातन सहस्थान पर संस्थित है। ब्रह्म ही वह सनातन सहस्थान है जहां योगिजन और भक्तजन सहनिवास करते हैं। भावसमाधि में भक्तजन तथा योगिजन अपनी सम्पूर्ण भावना से ब्रह्म में सतत समाहित रहते हैं। वे शिशुवत् सन्तत ब्रह्म की आनन्दमयी गोद में संस्थित रहते हैं।

पुष्पवती सुफला ओषधियो,
यह तुम्हारा ऋत्वीय गर्भ है,
सदा सत्कृत करो इसे तुम।
संस्थित है यह सनातन सहस्थान पर।

४७९ वि पाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवाः ।
सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्नेरहं सुहवस्य प्रणीतौ ॥
[ऋ ३.१५.१] य ११/४९

वि पाजसा पृथुना शोशुचानः बाधस्व द्विषः रक्षसः अमीवाः ।
सु-शर्मणः बृहतः शर्मणि स्याम् अग्नेः अहम् सु-हवस्य प्र-नीतौ ॥

स्वागत-सुवचनों के उपरान्त देव-देवियां योगप्रसारक वाजी को सम्बोधन करते हैं—तू (पृथुना पाजसा) विस्तृत पाज से, व्यापनशील आत्मसंबल से (शोशुचानः) पवित्र होकर (द्विषः) द्वेषियों को, (रक्षसः) हिंसकों को, (अमीवाः) रोगों को (वि बाधस्व) विबाधित कर, रोक।

पाज नाम बल का है, उस बल का नहीं जो द्वेष और हिंसा के मल से मलिन होता है, अपि तु उस आत्मसंबल का जो पवित्र आत्मस्नेह और कल्याणभावना से संशुद्ध होता है।

जीवन की योगपद्धति की संव्याप्ति में सबसे बड़ी तीन बाधायें हैं द्वेषियों का द्वेष, राक्षसों की

हिंसा और भोगजन्य रोग। योगप्रसारक को अपने सुपूत पाज के आश्रय से मानव-समाज को इन तीनों अभिशापों से मुक्त करना है। ऐसा किये बिना समाज में वह वातावरण कदापि न बन पायेगा, योग की व्याप्ति में जिसकी इतनी आवश्यकता है। मानवों में से उपर्युक्त तीनों अभिशापों का निराकरण होने पर ही वह स्वच्छ और स्वस्थ समाज बनता है, जो योग-जीवनपद्धति को जीवन का अंग बनाता है। द्वेषियों को द्वेष-रहित करना, राक्षसों को अहिंसक बनाना, रोगियों को संयमी बनाकर उन्हें रोगमुक्त करना—यही वि-बाध है।

देव-देवियों के सम्बोधन का उत्तर देते हुये योगोपासक वाजी कहता है—परमपावन प्रभु ऐसी कृपा करे कि (अहम्) मैं (बृहतः सु-शर्मणः सु-हवस्य अग्नेः) विशाल सुसुखयिता सुहोम अग्नि की (शर्मणि) सुस्थिति में तथा (प्र-नीतौ) सु-नीति में (स्याम्) रहूं।

सूर्य ही वह 'बृहद् अग्नि' है जो अपने प्रकाश और ताप से प्राणियों को सुसुख प्रदान करता है और जिससे सतत होम होरहा है। ऐसे उस सूर्याग्नि की सुस्थिति तथा नीति में स्थित रहने की वाजी प्रभु से प्रार्थना कर रहा है।

सूर्य अपने आवृत पर निरन्तर घूमता रहता है। अनवरत भ्रमण अथवा नितराम् गति ही उसकी सुस्थिति है। वाजी जीवन की योगपद्धति का विश्व में प्रचार-प्रसार तब ही कर सकेगा, जब वह सूर्य के समान अपने साधनावृत पर संस्थित होकर सन्तत भ्रमण तथा प्रगमन करेगा और सर्वत्र योग का शिक्षण प्रशिक्षण करेगा।

अन्धकार का निराकरण और प्रकाश का प्रसार-यही सूर्य की सुनीति है। द्वेष, हिंसा और रोग अज्ञानान्धकार में पनपते हैं और ज्ञानालोक में दूर भाग जाते हैं। योगप्रसारक लगातार परिभ्रमण करता हुआ देश-देश के मानवों का अज्ञानान्धकार हटाकर उन्हें योगपथ पर आरूढ़ करता है।

पृथु पाज से निर्मल होकर,
कर वि-बाध द्वेषियों, राक्षसों
और रोगों का।
रहूं स्थित मैं,
बृहत् सुशर्मा सुहव अग्नि की
सुस्थिति में, अपि च सुनीति में।

सूक्ति—बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवाः।
द्वेषियों, राक्षसों, रोगों को रोक।

४८० आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥

[ऋ १०.९.१, य ३६/१४, सा १८३७, अ १.५.१] य ११/५०

आपः हि स्थ मयःभुवः ताः नः ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥

सूर्याग्नि की सुस्थिति तथा सुनीति में संस्थित हुआ प्रत्येक वाजी सर्वत्र सर्व जनों को योगजीवन में दीक्षित करता हुआ सारी पृथिवी पर विचर रहा है। वह दीक्षितों का जल से अभिषेक कर रहा है और दीक्षित नर-नारी जल का स्तवन करके आत्मप्रेरणा प्राप्त कर रहे हैं—(आपः) जल-धाराओ! तुम (स्थ) हो (हि) निश्चय से (मयः-भुवः) सुखकारिणी। (ताः) वे तुम (दधातन) धारण करो (नः) हमें (ऊर्जे) स्फूर्ति के लिये, (महे) तेज के लिये, (रणाय) सुघोष—सुकण्ठ—सुवचन के लिये, (चक्षसे) सुदृष्टि के लिये।

गर्मी से तप्त, श्रम से थका, पसीनों से आकुल मानव जब निर्मल शीतल जलधाराओं में स्नान करता है तो उसे सुख की प्रतीति होती है, उसकी थकान दूर होती है, उसमें फुर्ती आजाती है, उसका गात तेजोमय—सुन्दर होजाता है। शीतल जल का पान करने से कण्ठ तर होकर खुल जाता है और मनुष्य सुष्ठुतया बोलता है। आंखों में शीतल जल

के छींटों से नेत्र स्वच्छ और सुचक्ष होजाते हैं, दर्शनशक्ति का रक्षण तथा वर्धन होता है।

उसी प्रकार योगवारि की निर्मल शीतल धारायें निश्चय ही भोगों, रोगों और क्लेशों से सन्तप्त मानवों के जीवनों में सुख-शान्ति, स्फूर्ति, तेजस्विता का संचार करती हैं, उनके वचनों में सुप्रभाव की स्थापना करती हैं, उनकी दृष्टि में दिव्यता का संचार करती हैं।

जलधाराओ,
हो तुम निश्चय ही सुखयित्री।
धारण करो हमें स्फूर्ति,
तेज, घोष, दृष्टि के लिये।

४८१ यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥

[ऋ १०.९.२, य ३६/१५, सा १८३८, अ १.५.२] य ११/५१

यः वः शिव-तमः रसः तस्य भाजयत इह नः। उशतीः-इव मातरः॥

जलधाराओ! (यः वः शिवतमः रसः) जो तुम्हारा कल्याणप्रद-तम रस है, (तस्य भाजयत इह नः) उसका सेवन कराओ यहां हमें, (उशतीः-इव मातरः) प्रेममयी माताओं के समान।

आकाश से बरसनेवाली जलधाराओं का रस वसुन्धरा को हरा-भरा कर देता है। नदियों, नहरों, कूपों, तडागों और झरनों से प्रवाहित होनेवाली जलधाराओं का रस भी भूमियों का सिंचन करता है।

योगधाराओं का अतिशय कल्याणकारी दिव्य रस वाजियों [निष्णात गुरुओं] द्वारा हमें उसी प्रकार सेवन कराया जाये, जिस प्रकार कामयमाना— प्रेममयी मातायें अपने शिशुओं को अपने स्तनों का दुग्ध पान कराती हैं। योग-रस का पान करके हम शरीरेण तथा आत्मना सर्वतः सम्पुष्ट रहें।

है जो तुम्हारा शिवतम रस,
उसका सेवन कराओ यहां हमें।
प्रेममयी माताओं के समान।

४८२ तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः॥

[ऋ १०.९.३, य ३६/१६, सा १८३९, अ १.५.३] य ११/५२

तस्मै अरम् गमाम वः यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपः जनयथ च नः॥

तुम (यस्य क्षयाय) जिसके निवास के प्रति, जिसके धाम की ओर (जिन्वथ) जारही हो, हम भी (वः) तुम्हारे (तस्मै) उसी [प्रियतम देव] के प्रति (अरम् गमाम) पर्याप्त गमन करें, प्रगमन करें, अनुधावन करें। (आपः) जलधाराओ! (नः जनयथ च) हमें बताओ तो।

नदियां कल-कल करती हुयी बही चली जारही हैं, मानों विरह-गान करती हुयी उस परम देव के प्रिय धाम की ओर चली-चली जारही हैं। और वे जैसे स्थैर्य [इतमीनान] के साथ चली-चली जारही हैं, उससे प्रतीत होता है कि उन्हें उस प्रिय धाम के पथ का निश्चित पता है। इस भावना से अनुभावित होकर योगाभिषिक्त साधक-साधिकायें जलधाराओं को सम्बोधन करके कहने लगती हैं, 'जलधाराओ! तुम अपने जिस प्रियतम के जिस प्रिय धाम की ओर बही चली जारही हो, हम भी उसी की खोज में हैं। तो हम भी तुम्हारे साथ उस प्रिय धाम की ओर चलें। जलदेवियो! बताओ तो, क्या तुम उस प्रियतम को और उसके प्रिय धाम को जानती हो?'

भोग का लक्ष्य काया और माया है, तो योग का लक्ष्य आत्मसाधना द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति है।

भोगी माया के विलासों में खोये रहते हैं। योगी माया से ऊपर उठे हुये आत्मा और परमात्मा की खोज करते हैं, सत्य और तत्त्व का अन्वेषण करते हैं।

जारही हो तुम जिसके धाम की ओर,
चलें हम भी तुम्हारे उसी के प्रति।
जलदेवियो! हमें बताओ तो।

४८३ मित्रः संसृज्य पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सह।
सुजातं जातवेदसमयक्ष्माय त्वा संसृजामि प्रजाभ्यः॥ य ११/५३
मित्रः सम्-सृज्य पृथिवीम् भूमिम् च ज्योतिषा सह।
सु-जातम् जात-वेदसम् अयक्ष्माय त्वा सम्-सजामि प्र-जाभ्यः॥

तीन पूर्व-मन्त्रों से योगदीक्षितों ने जल-स्तवन किया है। अब योगप्रसारक वाजी विशेष होनहार दीक्षितों को व्यक्तिशः उत्प्रेरित करता है—(पृथिवीम् च भूमिम्) पृथिवी और भूमि को (ज्योतिषा सह) ज्योति के साथ (सम्-सृज्य) सुसंस्कृत करके (मित्रः) मित्र मैं (त्वा सु-जातम् जात-वेदसम्) तुझ सुजात और जातवेदा को (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (अयक्ष्माय) अयक्ष्मार्थ (सम्-सृजामि) संसृजता हूं, विशेषतया प्रशिक्षित करके सुदक्ष बनाता हूं।

पृथिवी शब्द का प्रयोग यहां सम्पूर्ण भूगोल के लिये हुआ है और भूमि का देश-प्रदेश के अर्थ में। योगजन्य विवेक-ख्याति अथवा ज्ञान-ज्योति का प्रसार करते हुये वाजी ने देश-देश, प्रदेश-प्रदेश को ज्योतिर्धाम बना दिया है और वहां की प्रजाओं को योगसंस्कारों से सुसंस्कृत कर दिया है।

वाजी मित्र है, विश्वस्नेही सूर्य है। उसे विश्व की समस्त प्रजाओं को योगामृत पिलाकर उनमें ज्योति और आनन्द का संचार करना है। ऐसी विशाल और व्यापक साधना के लिये उसे असंख्य वाजियों का निर्माण करके उन्हें सुदक्ष बनाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह जिस किसी भी दीक्षित साधक या साधिका को होनहार पाता है, उसी को सम्बोधन करके वह कहता है, 'विश्व की मानव-प्रजाओं का हितैषी मित्र मैं तुझ सुजात और जातवेदा को प्रजाओं के क्षयराहित्य अथवा अविनाश के लिये संसृजता हूं।'

'सुजात' का अर्थ है सुजन्मा, कुलीन, उत्तम-कुलोत्पन्न। 'जात-वेदाः' से यहां तात्पर्य है जात को जाननेवाला, संज्ञानी, सर्ववित्। सुकुल के सुसंस्कारों से सुसंस्कृत साधक-साधिका अपेक्षाकृत अधिक सक्षम और सुदक्ष बन सकते हैं। ऐसे-ऐसे सक्षम और सुदक्ष साधक-साधिका उच्च कोटि के वाजी-वाजिका बनकर विश्व की मानव-प्रजाओं को भोगविलासजन्य विनाश से बचाकर उन्हें अविनाश के राजपथ पर आरूढ़ करते हैं।

पृथिवी और भूमि को ज्योति से संसृज कर,
मित्र मैं तुझ सुजात जातवेदा को
प्रजाओं के अविनाश के लिये
संसृजता हूं।

४८४ रुद्राः संसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिरे। तेषां भानुरजस्र इच्छुक्रो देवेषु रोचते॥ य ११/५४
रुद्राः सम्-सृज्य पृथिवीम् बृहत् ज्योतिः सम्-ईधिरे। तेषाम् भानुः अजस्रः इत् शुक्रः देवेषु रोचते॥

और अब सभी योगदीक्षितों को उत्प्रेरित करता हुआ वाजी उनके प्रति कहता है—देखो, जिन (रुद्राः) रुद्रों ने (पृथिवीम् सम्-सृज्य) पृथिवी को संसृज कर, पृथिवी का निर्माण करके (बृहत्

ज्योतिः) महत् ज्योति (सम्-ईधिरे) प्रज्वलित—प्रकाशित की है, (तेषाम् इत्) उनका ही (अजस्रः शुक्रः भानुः) अक्षय शुद्ध—शुभ्र प्रकाश (देवेषु रोचते) देवों में जगमगार हा है।

रुद्र=रुत्-द्र। रुत्=रोग। द्र=दीर्ण—नष्ट करनेवाला। प्रजा के अन्तः-बाह्य रोगों, दोषों का निवारण करके उनके जीवनों का निर्माण करनेवालों की संज्ञा 'रुद्र' है। 'प्राणो वै रुद्रः।' प्राणवत् निर्विश्राम, निर्विषय, निर्विकार और निरासक्त रहकर जो संसाधना करते हैं, उन योगियों की रुद्र संज्ञा है। 'धीरा वै रुद्राः।' जो धीर हैं, धैर्य के धनी हैं, वे रुद्र हैं।

पृथिविवासी मानव-जीवनों का निर्माण ही पृथिवी का निर्माण है। पृथिवी की मानव-प्रजा जब जीवन की योग-पद्धति से युक्त होजाती है, तब पृथिवी पर बृहत् ज्योति जगमगाती है। विवेक-ज्योति, आत्म-ज्योति अथवा ब्रह्म-ज्योति ही वह बृहत् ज्योति है जिसे रुद्र प्रज्वलित और प्रकाशित किया करते हैं। आनेवाली पीढ़ियों के देवों और देवियों के जीवनों में उन रुद्रों की वही ज्योति प्रकाशरूप में द्योतित होकर जनजीवन का मार्गदर्शन कर रही है।

'दीक्षितो! जिन पूर्वजों ने पृथिवी [पृथिवीस्थ मानव-प्रजा] का निर्माण करके जो बृहज्ज्योति प्रकाशित की थी, उनका वही शुद्ध—शुभ्र प्रकाश मानवदेवों में जगमगा रहा है। तुम भी योगयुक्त रुद्र बनकर बृहज्ज्योति का प्रकाशन करो, ताकि तुम्हारे द्वारा प्रदत्त प्रकाश आनेवाले मानवदेवों में जगमगाता रहे।'

पृथिवी को संसृजकर,
रुद्रों ने प्रकाशित की थी
बृहज्ज्योति।
अक्षय शुद्ध प्रकाश उन्हीं का
देवों में होरहा है द्योतित।

४८५ संसृष्टां वसुभी रुद्रैर्धीरैः कर्मण्यां मृदम्। हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा सिनीवाली कृणोतु ताम्॥
य ११/५५

सम्-सृष्टाम् वसुभिः रुद्रैः धीरैः कर्मण्याम् मृदम्। हस्ताभ्याम् मृद्वीम् कृत्वा सिनीवाली कृणोतु ताम्॥

समस्त पृथिवी का सुनिर्माण और उस पर बृहज्ज्योति का प्रकाशन कठिन नहीं है, यदि माता-पिता द्वारा (मृदम् मृद्वीम् कृत्वा) मिट्टी को मुलायम करके [निर्मिता], (वसुभिः रुद्रैः धीरैः ताम् सम्-सृष्टाम्) वसुओं द्वारा, रुद्रों द्वारा, धीरों द्वारा उस सु-निर्मिता [उखा] को (सिनीवाली) सिनीवाली (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों से (कर्मण्याम् कृणोतु) कर्मण्या—साधनाशीला करे—बनाये।

'सिनी' नाम श्वेत चन्द्रिका का है। चन्द्रिका के समान श्वेत ज्योत्स्ना से, शुभ्र सौन्दर्य से युक्त आत्मसत्ता का नाम सिनीवाली है, जिसके दो हस्त हैं इच्छाशक्ति और विवेक।

उखा नाम बटलोयी और हांडी का है। बटलोयी पीतल, तांबा, आदि धातु से निर्मित की जाती है। हांडी बनायी जाती है मिट्टी को पानी से गीली—मुलायम करके। यहां, इस मन्त्र में उस हांडी का उल्लेख नहीं है जिसे कुम्भकार बनाता है, अपि तु उस हांडी का वर्णन है जिसे माता-पिता मुलायम मिट्टी से निर्मित करते हैं और वसु, रुद्र, धीर जिसे सुनिर्मित करते हैं। वह हांडी है मानव-शरीर अथवा मानव जीवन। मानव-देह मिट्टी की हांडी है। जल-सेवन से यह मुलायम रहती है। अग्नि से इसका पोषण होता है। प्राण इसे गति देते हैं। आकाश में यह स्थित है।

माता-पिता रज-वीर्यरूपी मुलायम मिट्टी से जीवन-उखा का केवल निर्माण करते हैं। किन्तु इसका संसृजन अथवा सुनिर्माण वसु, रुद्र और धीर

करते हैं। वसु नाम अन्तरिक्षसत् सम्पदा का है। अन्तस्साधना द्वारा जिसने अध्यात्म-धन प्राप्त किया है उसकी संज्ञा 'वसु' है। प्राण के समान जो निर्दोष, निर्मल, निर्विकार, निर्विश्राम, तपस्वी और अनासक्त है वह 'रुद्र' है। 'अकामो धीरः।' विषय-वासनाजन्य इच्छाओं से जो सर्वथा मुक्त है वह 'धीर' है।

वसुओं, रुद्रों और धीर योगियों तथा योगिनियों के सुसंग और सदुपदेशों से नर-नारियों की आत्म-सत्ता का जागरण होता है जिसके परिणामस्वरूप उनकी इच्छाशक्ति और विवेक प्रखरता को प्राप्त होते हैं। इच्छाशक्ति और विवेक के आश्रय से जीवन-उखा कर्मण्या अथवा साधनाशीला बनती है। साधनाशीला उखायें ही पृथिवी का सुनिर्माण और उस पर बृहज्ज्योति का प्रकाशन करती हैं।

करके मिट्टी को मुलायम,
माता-पिता द्वारा निर्मित,
वसुओं, रुद्रों, धीरों द्वारा
उस सुसंसृष्टा हांडी को
सिनीवाली दोनों हाथों से
करे साधनाशीला।

४८६ सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा। सा तुभ्यमदिते मह्योखां दधातु हस्तयोः॥

य ११/५६

सिनीवाली सु-कपर्दा सु-कुरीरा सु-औपशा। सा तुभ्यम् अदिते महि उखाम् दधातु हस्तयोः॥

प्रत्येक दीक्षित साधक अपनी साधनाशीला जीवन-उखा को लक्ष्य करके अपनी सम्पूर्ण भावना के साथ पृथिवी माता को सम्बोधन करता हुआ कहता है—(अदिते महि) अखण्ड भूमे! (तुभ्यम्) तेरे लिये, तेरे सुनिर्माण और तुझ पर बृहज्ज्योति के प्रकाशनार्थ (सा सु-कपर्दा सु-कुरीरा सु-औपशा सिनीवाली) वह सुकपर्दा, सुकुरीरा, स्वौपशा सिनीवाली [मेरी] (उखाम्) जीवन-हांडी को (हस्तयोः) इच्छाशक्ति और विवेकरूपी हाथों से (दधातु) धारण उन्नत करे।

यहां भी सिनीवाली शब्द का प्रयोग श्वेत ज्योत्स्ना और शुभ्र सौन्दर्य से युक्त आत्मसत्ता के लिये हुआ है। सिनीवाली के लिये मन्त्र में जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है वे आत्मस्वरूप के परिचायक हैं।

कपर्द नाम केश और किरण का है। जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य के केश हैं, उसी प्रकार आत्मप्रचेतना की किरणें सिनीवाली के केश हैं। सिनीवाली सुकपर्दा है, सुकिरणा अथवा सुकेशा है।

सु-कु-रीरा=सु-शब्दों की सुप्रेरिका। आत्मा से निकले शब्दों की ही संज्ञा 'परा वाणी' है और उन्हीं का नाम सुकुरीर है। सुकुरीर अतिशय ओजप्रद—प्रेरणाप्रद होते हैं। सिनीवाली सुकुरीरा है।

स्वौपशा=सु-औप-शा, सुष्ठुतया उपतः [समीपतः] शयन—व्यापन करनेवाली, अंग-अंग में सुशयन करनेवाली अथवा व्यापनेवाली। सिनीवाली की ज्योत्स्ना जीवन के कण-कण में व्याप रही है। वह स्वौपशा है।

ऐसी सिनीवाली इच्छाशक्ति तथा विवेक रूपी हाथों से प्रत्येक जीवन-उखा को ऐसी समुन्नत करे कि सारी भूमि पर सुनिर्मिति च बृहज्ज्योति की संव्याप्ति होजाये।

अखण्ड भूमे,
वह सुकेशा सुशब्दप्रेरिका
सुव्याप्तिशीला सिनीवाल
उन्नत करे उभय हाथों से
उखा-उखा को।

४८७ उखां कृणोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया ।
माता पुत्रं यथोपस्थे साग्निं बिभर्तु गर्भ आ । मखस्य शिरो ऽसि ॥ य ११/५७

उखाम् कृणोतु शक्त्या बाहुभ्याम् अदितिः धिया ।
माता पुत्रम् यथा उपस्थे सा अग्निम् बिभर्तु गर्भे आ । मखस्य शिरः असि ॥

पूर्व-मन्त्रों में श्वेत ज्योत्स्ना और शुभ्र सौन्दर्य से युक्त जिस आत्मसत्ता को सिनीवाली कहा गया है, उसी को यहां अदिति कहा गया है। अदिति= खण्डरहिता। जिसका कभी खण्ड या विनाश न हो वह अदिति है। खण्ड से विनाश होता है, अखण्ड से अविनाश। अदिति, अ-दिति, अ-दीना। जिसमें दीनता न हो, वह अदिति है। अदिति दीनतामुक्त है।

आत्मदीनता जीवन-उखा को शक्तिहीन और धारणाविहीन बनाती है। आत्म-अदीनता उसे उस अदम्य शक्ति और उस दृढ़ धारणा से आपूर भर देती है, जिससे योगमय विश्व की सुनिर्मिति और संज्ञानमय बृहज्ज्योति की विश्वव्याप्ति होती है। इसी तथ्य के प्रकाशनार्थ वेदमाता ने प्रत्येक दीक्षित योगसाधक के मुख से यहां पुनः कहलवाया है—

१) (अदितिः) अविनाशी अदीन आत्मसत्ता (बाहुभ्याम्) इच्छाशक्ति और विवेक रूपी दो हाथों से (उखाम्) जीवन-उखा को (शक्त्या धिया कृणोतु) शक्ति से और धारणा से युक्त करे।

शक्ति और धारणा के संयोग से ही विशाल और व्यापक साधें सिद्ध हुआ करती हैं। शक्ति के बिना धारण पंगु है तो धारणा के बिना शक्ति निर्जीव है।

२) (सा) वह [अदिति] (गर्भे अग्निम् आ बिभर्तु) गर्भ में अग्नि को धारण—स्थापन करे, (यथा माता उपस्थे पुत्रम्) जैसे माता गोद में पुत्र को।

'गर्भ' का प्रयोग यहां अन्तःकरण के लिये हुआ है और 'अग्नि' का साध की ऊष्मा के लिये। जिनके अन्तःकरण में अपनी साध के लिये अग्नि धधकती रहती है, वे ही उसकी संसिद्धि के लिये स्वसर्वस्व सुहुत करते हैं। अदिति साधकों के अन्तःकरण में साध की साधनाग्नि को उसी प्रकार प्रस्थापित रखे, जिस प्रकार प्रेमोष्मा से माता अपने प्रिय शिशु को अपनी गोद में बिठाती है।

३) अग्ने! तू (मखस्य शिरः असि) यज्ञ का मूर्धा है।

'मख्' धातु, जिससे मख शब्द का जन्म हुआ है, गत्यर्थक अथवा साधनार्थक है। मख नाम उस यज्ञ का नहीं है जो भौतिक अग्नि से किया जाता है, अपि तु उस साधनापरक यज्ञ का है जो अन्तः-करण की धधकती हुयी अग्नि से किया जाता है। अन्तरग्नि निस्सन्देह प्रत्येक मख का मूर्धा है, सर्वोपरि साधन है।

अदिति उभय बाहुओं द्वारा
करे उखा को
शक्ति, धारणा से सम्पन्न।
वही स्थापन करे अग्नि को
अन्तरङ्ग में,
माता पुत्र को यथा गोद में,
तू है मूर्धा मख का।

सूक्ति—मखस्य शिरो ऽसि।
तू साधनायज्ञ का मूर्धा है।

४८८ वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि पृथिव्यसि धारया मयि प्रजां रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यं सजातान् यजमानाय रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवास्यन्तरिक्षमसि धारया मयि प्रजां रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यं सजातान् यजमानायादित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि द्यौरसि धारया मयि प्रजां रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यं सजातान् यजमानाय विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेन छंदसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि दिशोऽसि धारया मयि प्रजां रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यं सजातान् यजमानाय ॥ य ११/५८

वसवः त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसा अङ्गिरःवत् ध्रुवा असि पृथिवी असि धारय मयि प्र-जाम् रायः पोषम् गौपत्यम् सु-वीर्यम् सजातान् यजमानाय रुद्राः त्वा कृण्वन्तु त्रै-स्तुभेन छन्दसा अङ्गिरःवत् ध्रुवा असि अन्तरिक्षम् असि धारय मयि प्र-जाम् रायः पोषम् गौपत्यम् सु-वीर्यम् सजातान् यजमानाय आदित्याः त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसा अङ्गिरःवत् ध्रुवा असि द्यौः असि धारय मयि प्र-जाम् रायः पोषम् गौपत्यम् सु-वीर्यम् सजातान् यजमानाय विश्वे त्वा देवाः वैश्वानराः कृण्वन्तु आनु-स्तुभेन छन्दसा अङ्गिरःवत् ध्रुवा असि दिशः असि धारय मयि प्र-जाम् रायः पोषम् गौपत्यम् सु-वीर्यम् सजातान् यजमानाय ॥

अविनाशी अदीन आत्मसत्ता को सम्बोधन करता हुआ प्रत्येक दीक्षित योगसाधक कह रहा है—
१) (वसवः त्वा कृण्वन्तु) वसु तुझे करें—बनायें (गायत्रेण छन्दसा) प्राण-रक्षण छन्द से, जीवन-सार्थक्य की भावना से (अंगिरःवत्) परमात्मवत्, ब्रह्मवत् ।

'वसु' उन योगियों की संज्ञा है जिन्होंने अन्तस्साधना द्वारा अध्यात्मधन सम्प्राप्त किया है ।

अंग-अंग में जो रम रहा है वह 'अंगिरस्' है । परमात्मा वह अंगिरस् है जो इस अखिल सृष्टि के अंग-अंग में रम रहा है ।

आत्मधन के धनी अपनी आत्मसत्ता को ब्रह्मवत् बनायें । जिस प्रकार अग्नि में समाहित होकर कोयला अग्निवत् होजाता है, उसी प्रकार अध्यात्मधन के प्रेमी ब्रह्म में समाहित होकर आत्मसत्ता को ब्रह्मवत् बनायें । इसी में प्राण [श्वास-श्वास] की रक्षा है, इसी में मानव-जीवन की सार्थकता है ।
२) तू (ध्रुवा असि, पृथिवी असि) ध्रुवा है, पृथिवी है ।

जीवन में जो ध्रुवता है वह आत्मसत्ता की है । आत्मा 'अनिल'–अपार्थिव और 'अमृत'—मृत्युरहित है । शरीर पार्थिव और 'भस्मान्त' है । ध्रुव आत्मा अध्रुव पार्थिव देह में निवास कर रहा है ।

'पृथिवी पृथुसुखानन्दकारिणी ।' आत्मसत्ता पृथिवी के समान असंख्य—अनेक सुखानन्दों की प्रदात्री है । जीवन के सब सुखानन्द आत्मसत्ता के ही आश्रय से प्राप्त होते हैं ।
३) आत्मसत्ता को ब्रह्मवत् बनाने के हेतु (मयि) मुझमें, मुझ दीक्षित योगसाधक में, (यजमानाय) यजमान के लिये, मुझ योगयज्ञ के सम्पादक के लिये (धारय) धारण—ध्रुव—स्थिर कर (प्र-जाम्) प्रकृष्ट-जा को, इन्द्रियों की प्रकृष्टता को, (रायः पोषम्) आत्मैश्वर्य के पोष को, अध्यात्मधन की पुष्टि को, (गौपत्यम्) गौपत्य को, गौओं—इन्द्रियों के स्वामित्व को, जितेन्द्रियता को, (सु-वीर्यम्) सुपराक्रम को, (सजातान्) सजातों—

मानवबन्धुओं को।

योगसाधक में इन्द्रियों की प्रकृष्टता का स्थिर होना प्रत्यक्षतः परमावश्यक है। तब ही उसमें स्थिरता के साथ आत्मैश्वर्य की पुष्टि का सम्पादन होगा, तब ही वह जितेन्द्रियता स्थिर कर सकेगा, तब ही वह अविचल आत्म-सुवीर्य से युक्त होगा और तब ही वह सजातों/मानवबन्धुओं को स्थिरता के साथ योगपथ पर आरूढ़ कर पायेगा। आत्मसत्ता ही उसमें स्थिरता के साथ इन पञ्च सम्पदाओं की स्थापना कर सकती है।

४) (रुद्राः त्वा कृण्वन्तु) रुद्र तुझे करें—बनायें (त्रै-स्तुभेन छन्दसा) त्रै-स्तुप् छन्द से, मन-वचन-कर्मरूपी त्रित की प्रशस्तता को भावना से (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्।

'रुद्र' नाम उन योगियों का है जो प्राण के समान निर्दोष, निर्मल, निर्विषय, निर्विकार, निर्विश्राम, तपस्वी और अनासक्त होते हैं। यह सिद्धि मन, वचन, कर्म की प्रशस्तता से सिद्ध होती है।

प्राण के समान संशुद्ध योगी मन, वचन, कर्म की प्रशस्तता के साथ ब्रह्म में समाहित होकर आत्मसत्ता को ब्रह्मवत् बनायें, यही परमोत्कृष्ट साधना है।

५) तू (ध्रुवा असि अन्तरिक्षम् असि) ध्रुवा है, अन्तरिक्ष है।

अन्तरिक्ष से तात्पर्य यहां अन्तःकरण अथवा हृदयाकाश से है। ध्रुवा आत्मसत्ता हृदयाकाश में अधिष्ठित है। चित्तवृत्तियों का निरोध करके अपने स्वरूप में अवस्थित होकर निज रूप का दर्शन और ब्रह्म का सन्दर्शन करना ही अन्तरिक्ष-निवास का प्रयोजन है।

६) ब्राह्मी स्थिति की प्राप्त्यर्थ (मयि) मुझ योगसाधक में, (यजमानाय) मुझ योगयज्ञ के यजमान के लिये (धारय) धारण कर (प्र-जाम्, रायः पोषम्, गौपत्यम्, सु-वीर्यम्, सजातान्) प्रजा, आत्मैश्वर्य के पोष, गौपत्य, सुवीर्य तथा सजातों को।

७) (आदित्याः त्वा कृण्वन्तु) आदित्य तुझे करें—बनायें (जागतेन छन्दसा) जागत छन्द से, जगती के कल्याण की भावना से (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्।

ब्रह्मवत् बनकर ही आत्मसत्ता जगत्पति के जगत् की कल्याणसाधना कर सकती है। यह संसाधना आदित्यों का दिव्य भाग है। आदित्य नाम अदिति के पुत्र का है। अदिति शब्द के अनेक अर्थों में से एक अर्थ अखण्ड पृथिवी है। सम्पूर्ण पृथिवी को जो अपनी माता और उस पर निवास करनेवाली समग्र मानव-प्रजा को जो अपना परिवार मानते हैं, उन योगियों की संज्ञा आदित्य है। आदित्य विश्वकल्याण की भावना से अपनी-अपनी आत्मसत्ता को ब्रह्मवत् बनायें।

८) तू (ध्रुवा असि द्यौः असि) ध्रुवा है, द्यौ है।

द्यौ प्रकाश अथवा ज्योति का प्रतीक है। आत्मसत्ता जहां ध्रुवा है, वहां दीप्तिमान्, ज्योतिष्मान्, प्रकाशमान् भी है।

९) ब्रह्मरूपतार्थ (मयि) मुझ योगसाधक में, (यजमानाय) मुझ योगयज्ञ के यजमान के लिये (धारय) धारण कर (प्र-जाम्, रायः पोषम्, गौपत्यम्, सु-वीर्यम्, सजातान्) प्रजा, आत्मैश्वर्य के पोष, गौपत्य, सुवीर्य तथा सजातों को।

१०) (विश्वे वैश्वानराः देवाः त्वा कृण्वन्तु) सब विश्वनायक देव तुझे करें—बनायें (आनु-स्तुभेन छन्दसा) आनु-स्तुप् भावना से (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्।

'अनु' शब्द में अनुसरणशीलता, सततता का भाव निहित है और 'स्तुप्' में स्तुत्य—प्रशस्त आचार का। विश्व में स्तुत्य आचार का अनुसरण हो, इस मंगल भावना से विश्व का सुनयन करनेवाले देव-देवियां आत्मसत्ता को ब्रह्मवत् बनायें। तो ही वे विश्व में प्रशस्त मानवाचार की प्रस्थापना कर सकेंगे।

११) तू (ध्रुवा असि दिशः असि) ध्रुवा है, दिशायें है।

आत्मसत्ता जहां ध्रुवा है; वहां वह ब्रह्मवत् बनकर दिशा-प्रदिशाओं में सुनयन तथा स्तुत्याचार की प्रतिष्ठा कर सकती है।

१२) ब्राह्मी स्थिति की प्राप्त्यर्थ (मयि) मुझ योगसाधक में, (यजमानाय) मुझ योगयज्ञ के यजमान के लिये (धारय) धारण कर (प्र-जाम्, रायः पोषम्, गौपत्यम्, सु-वीर्यम्, सजातान्) प्रजा, आत्मैश्वर्य के पोष, गौपत्य, सुवीर्य तथा सजातों को।

वसु करें तुझे गायत्र छन्द से अंगिरस्वत्,
तू है ध्रुवा, तू है पृथिवी,
धार मुझमें, मुझ यजमान के लिये
प्रजा, रायस्पोष, गौपत्य, सुवीर्य, सजातों को।
रुद्र बनायें तुझे त्रै-स्तुप् छन्द से अंगिरस्वत्,
तू है ध्रुवा, तू है अन्तरिक्ष,
धार मुझमें, मुझ यजमान के लिये
प्रजा, रायस्पोष, गौपत्य, सुवीर्य, सजातों को।
आदित्य करें तुझे जागत छन्द से अंगिरस्वत्,
तू है ध्रुवा, तू है द्यौ,
धार मुझमें, मुझ यजमान के लिये
प्रजा, रायस्पोष, गौपत्य, सुवीर्य, सजातों को।
सब वैश्वानर देव बनायें तुझे
आनु-स्तुप् छन्द से अंगिरस्वत्,
तू है ध्रुवा, तू है दिशायें,
धार मुझमें, मुझ यजमान के लिये
प्रजा, रायस्पोष, गौपत्य, सुवीर्य, सजातों को।

४८९ अदित्यै रास्नास्यदितिष्टे बिलं गृभ्णातु। कृत्वाय सा महीमुखां मृन्मयीं योनिमग्नये। पुत्रेभ्यः प्रायच्छददितिः श्रपयानिति॥ य ११/५९

अदित्यै रास्ना असि अदितिः ते बिलम् गृभ्णातु। कृत्वाय सा महीम् उखाम् मृत्-मयीम् योनिम् अग्नये। पुत्रेभ्यः प्र-अयच्छत् अदितिः श्रपयान् इति॥

आत्मसत्ता के प्रति सम्बोधन को जारी रखते हुये कहा जारहा है—

१) [अदिते! आत्मसत्ते!] तू (अदित्यै) अदिति [पृथिवी] के लिये (रास्ना असि) सुदात्री है। (अदितिः) अदिति [पृथिवी] (ते बिलम्) तेरे भरण—पोष को (गृभ्णातु) ग्रहण—सेवन करे।

पूर्व-मन्त्रों में अदिति शब्द अखण्ड पृथिवी तथा अविनाशी अदीन आत्मसत्ता के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। यहां इस मन्त्रांश में इस शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण पृथिवी अथवा पृथिवी-स्थ समग्र मानव-प्रजा के लिये हुआ है।

आत्मसत्ता, आत्मज्ञान, अध्यात्म-सम्पदा पृथिवी के लिये सुदेनें देनेवाली है। अध्यात्मविहीन भौतिकवाद पृथिवी को रौरव नरक और मानव को हिंसक पशु बना देता है। अध्यात्मवाद ही है जो अपनी सुदेनों से पृथिवी को स्वर्ग और मानव को दिव्य देव बनाता है। योगसाधकों का प्रयास है कि समग्र पृथिवी आत्मसत्ता के भरण को अथवा अध्यात्म के पोष को ग्रहण करे, भौतिक पुष्टि के साथ मानव-प्रजायें आध्यात्मिक पुष्टि का भी सम्पादन करें।

२) (सा अदितिः) उस अदिति—आत्मसत्ता ने (मृत्-मयीम् महीम् उखाम्) मृत्तिका-मयी मही हांडी को (अग्नये) अग्रगमन के लिये (योनिम् कृत्वाय) योनि बनाकर (पुत्रेभ्यः) पुत्रों के लिये (प्र-अयच्छत्) प्रदान किया, '(श्रपयान्) पकाओ,' (इति) ऐसा [कहकर]।

इस मन्त्रांश में अदिति शब्द का प्रयोग अविनाशी अदीन आत्मसत्ता के अर्थ में हुआ है।

मही=महती, पूजनीया। योनि=मानव-

शरीर।

'अग्निर्वै अग्रणीर्भवति।' अग्नि शब्द का प्रयोग यहां आत्म-अग्रगमन के लिये हुआ है।

'पुत्रेभ्यः' का प्रयोग हुआ है यहां सन्तति-परम्पराओं के अर्थ में।

'उस आत्मसत्ता ने मिट्टी की महती पूजनीया हांडी को आत्म-अग्रगमन के लिये योनि बनाकर उसे पुत्र-पुत्रियों/सन्ततियों को सौंपा, यह कहकर कि इसे पकाओ,' इसमें एक गहन अध्यात्म-शिक्षा निहित है। मानव-योनि यद्यपि मिट्टी की हांडी है, किन्तु है यह सब योनियों में सर्वज्येष्ठा तथा पूजनीया। इसके आश्रय से ही पृथिवी पर सर्वतः अग्रगमन होता है, प्रत्येक दिशा में प्रगति तथा समुन्नति होती हैं, लोक-परलोक की साधना होती है। इसी के आश्रय से आत्मा जन्मजन्मान्तर अग्रगमन करता हुआ विष्णु के परम धाम में प्रविष्ट होता है।

इस अध्यात्म-परम्परा का सन्तति-प्रवाह से वंशानुवंश परिपाक होता रहना चाहिये, जिससे यह वसुन्धरा सुख–शान्ति–स्वस्ति–आनन्द का धाम बनी रहे। अन्यथा केवल भौतिकवाद और भोगवाद से तो पृथिवी नरक धाम बन जाती है। सन्ततियां वे ही सुयोग्य हैं जो योगसम्पदा को अमूल्य पैतृक सम्पत्ति के रूप में अपनाकर उसका रक्षण, पोषण और वर्धन करें।

तू सुदात्री है पृथिवी के लिये,
पृथिवी ग्रहण करे तेरे सुपोष को।
उस अदिति ने मृन्मयी मही उखा को
अग्रगमन के लिये बनाकर योनि,
सौंपा पुत्रों को यह कहकर,
'इसे पकाओ।'

४६० वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद् रुद्रास्त्वा धूपयन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद् विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा धूपयन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिन्द्रस्त्वा धूपयतु वरुणस्त्वा धूपयतु विष्णुस्त्वा धूपयतु ॥ य ११/६०

वसवः त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसा अङ्गिरःवत् रुद्राः त्वा धूपयन्तु त्रै-स्तुभेन छन्दसा अङ्गिरःवत् आदित्याः त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसा अङ्गिरःवत् विश्वे त्वा देवाः वैश्वानराः धूपयन्तु आनु-स्तुभेन छन्दसा अङ्गिरःवत् इन्द्रः त्वा धूपयतु वरुणः त्वा धूपयतु विष्णुः त्वा धूपयत ॥

अदिति [अविनाशी आत्मा] के साथ उखा [शरीर-रूपी हांडी] को भी ब्रह्मवत् [ब्राह्मी] किया जाना चाहिये, अन्यथा जीवन अपूर्ण और अयुक्त ही रहेगा। इसी तथ्य का संज्ञान कराती हुयी वेदमाता शिक्षा कर रही है—

१) (वसवः) आत्मधन के धनी (त्वा धूपयन्तु) तुझ [उखा] को सम्यक् तपायें, तपाकर तुझे संशुद्ध और सुसंस्कृत करें (गायत्रेण छन्दसा) प्राण-रक्षण [जीवन-सार्थक्य] की भावना से (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्। जीवन-सार्थक्य की भावना जीवन को ब्राह्म बनाने की प्रेरणा करती है।

आत्मधन के धनी अपनी शरीर-सम्पदा को भी ब्राह्मी बनायें। योगयुक्त ब्राह्म साधना सम्पूर्णतया तभी सिद्ध होती है जब आत्मसत्ता तथा शरीर-सम्पदा, दोनों को ब्राह्मी रखा जाये। शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय का व्यवहार जब निर्विकार होता है तो शारीरिक ब्राह्मी स्थिति की सिद्धि होती है। प्रकृतिजन्य जो कुछ है वह सब सविकार है। ब्रह्म निर्विकार है। ब्रह्मसमाहित रहकर प्रत्येक इन्द्रिय से जो गति, चेष्टा, कृति की जाती है, वह निर्विकार होती है। यही शरीर का ब्राह्म आचार अथवा ब्राह्माचार है। इसी का नाम उखा—शरीर का ब्रह्मवत् होना है। इसी में जीवन की सार्थकता है और इसी में योग-जीवनपद्धति का साफल्य है।

२) (रुद्राः) प्राणरूप योगी (त्वा धूपयन्तु) तुझे तपाकर परिष्कृत करें (त्रै-स्तुभेन छन्दसा) त्रि-प्रशस्तता की भावना से (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्। त्रि-स्तुप् की भावना जीवन को ब्राह्म बनाती है।

प्राण के समान निर्विकार योगी मन-वचन-कर्मरूपी त्रित की प्रशस्तता के द्वारा शरीर को ब्रह्मवत् निर्विकार बनायें, तनू को ब्राह्मी करें। इसी में जीवन का ब्रह्मत्व है।

३) (अदित्याः) अदिति-पुत्र योगी (त्वा धूपयन्तु) तुझे तपाकर निर्मल करें (जागतेन छन्दसा) जगती के कल्याण की भावना से (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्। जगत्कल्याण की भावना मानव-जीवन को ब्राह्म गुणों से युक्त करती है।

अदिति [अखण्ड पृथिवी] को अपनी माता और अखिल मानव-प्रजा को अपना परिवार माननेवाले योगी विश्वमंगल की भावना से अपने को तपाकर ब्रह्मवत् उदार और व्यापक बनायें। तब ही सार्वभौम कल्याण की ब्राह्म साधना सम्भव होगी।

४) (वैश्वानराः विश्वे देवाः) विश्व का सुनयन करनेवाले सब देव (त्वा धूपयन्तु) तुझे तपाकर परिशुद्ध करें (आनु-स्तुभेन छन्दसा) स्तुत्याचारानुसरण की भावना से (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्। स्तुत्याचरण के अनुसरण की भावना जीवन को ब्राह्म बनाती है।

विश्व का नेतृत्व करनेवाले योगी जब अपने जीवन को ब्राह्म बनाकर मानवों में स्तुत्य आचार के अनुसरण की प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं तब ही संसार ब्राह्म जीवनपद्धति से युक्त होता है।

५) (इन्द्रः) इन्द्रियों का स्वामी आत्मा (त्वा धूपयत) तुझे तपाकर संशुद्ध करे। आत्माधिपत्य अथवा आत्मानुशासन से देह का ब्राह्मीकरण होता है।

६) (वरुणः त्वा धूपयतु) वरुण तुझे तपाकर विशुद्ध करे।

वरुण शब्द का प्रयोग यहां सुपरिष्कृत और सुदृढ़ मन के शिव संकल्प के लिये हुआ है। शिव संकल्प कायाकल्प का अमोघ साधन है। शिव संकल्प त्रैगुण्य शरीर को निस्त्रैगुण्य बना देता है।

७) (विष्णुः त्वा धूपयतु) विष्णु तुझे तपाकर सुसंस्कृत करे।

विष्णु शब्द का प्रयोग हुआ है यहां सुपरिष्कृत मस्तिष्क के गहन व्यापनशील शिव चिन्तन के लिये। शिव चिन्तन अशिव जीवन को शिव बना देता है।

वसु धूपें तुझे गायत्र छन्द से अंगिरस्वत्,
रुद्र धूपें तुझे त्रै-स्तुप् छन्द से अंगिरस्वत्,
आदित्य धूपें तुझे जागत छन्द से अंगिरस्वत्,
वैश्वानर सब देव धूपें तुझे
आनु-स्तुप् छन्द से अंगिरस्वत्।
इन्द्र धूपे तुझे,
वरुण धूपे तुझे,
विष्णु धूपे तुझे।

४६१ अदितिष्ट्वा देवी विश्वदेव्यावती पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत् खनत्ववट देवानां त्वा पत्नीर्देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वद् दधतूखे धिषणास्त्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वदभीन्धतामुखे वरूत्रीष्ट्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वच्छ्रपयन्तूखे ग्नास्त्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत् पचन्तूखे जनयस्त्वाच्छिन्नपत्रा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत् पचन्तूखे॥

य ११/६१

अदितिः त्वा देवी विश्वदेव्य-वती पृथिव्याः सध-स्थे अङ्गिरःवत् खनतु अवट देवानाम् त्वा पत्नीः देवीः विश्वदेव्य-वतीः पृथिव्याः सध-स्थे अङ्गिरःवत् दधतु उखे धिषणाः त्वा देवीः विश्वदेव्य-वतीः पृथिव्याः सध-स्थे अङ्गिरःवत् अभि-इन्धताम् उखे वरूत्रीः त्वा देवीः विश्वदेव्य-वतीः पृथिव्याः सध-स्थे अङ्गिरःवत् श्रपयन्तु उखे ग्नाः त्वा देवीः विश्वदेव्य-वतीः पृथिव्याः सध-स्थे अङ्गिरःवत् पचन्तु उखे जनयः त्वा अच्छिन्न-पत्राः देवी विश्वदेव्य-वतीः पृथिव्याः सध-स्थे अङ्गिरःवत् पचन्तु उखे ।।

जीवन-उखा को तपाकर ब्राह्मी किया जाने के उपरान्त उसकी खोद—खोज भी की जानी चाहिये। ब्राह्मी किये जाने के उपरान्त ही यह खोदी और खोजी जा सकती है। यह उखा रत्नगर्भा है। यह असंख्य अनन्त रत्नों की खान है। अखिल सृष्टि में जितने सूक्ष्म और स्थूल, आध्यात्मिक तथा भौतिक रत्न हैं, वे सब इस उखा में अन्तर्निहित हैं। अखिल प्रकाश, ज्योतियां, ज्ञान, विज्ञान, भूतियां, विभूतियां इसमें निहित हैं। यह उखा माप-तोल में जितनी सीमित है, गहराइयों और व्याप्तियों में उतनी ही असीम है। वेदमाता निर्देश करती है—

१) (अवट) ! (विश्वदेव्य-वती देवी अदितिः) समस्त दिव्यताओं से युक्त दिव्य आत्मसत्ता (त्वा खनतु) तुझे खोदे (पृथिव्याः सध-स्थे) पृथिवी के सहस्थान में (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत् ।

जिस प्रकार ब्रह्म की खोद—खोज योगस्थ तथा आत्म-अवस्थित होकर की जाती है, वैसे ही शरीर-उखा की खोद [खोज] भी अन्तर्मुख होकर गहन चिन्तन, मनन, निरीक्षण तथा योगमय साधना के द्वारा ही की जाती है। योगस्थ और आत्म-अवस्थित होकर ही इस उखा की गहराई में प्रवेश किया जाता है और उसमें निहित सम्पदाओं की प्राप्ति की जाती है।

उखा को इस मन्त्रांश में 'अवट' शब्द से सम्बोधन किया गया है। अवट नाम त्वचा, गुहा और छिद्र का है। जीवन-उखा एक गुहा है जो त्वचा से ढकी हुई है और जिसके बाहर नौ [दो नेत्र, दो श्रोत्र, दो नासिका, मुख, गुदा, मूत्रेन्द्रिय] छिद्र हैं। नौओं छिद्र वृत्तियों को बाह्यमुख करते हैं। इन्हें अन्तर्मुख—निरुद्ध करके संयम के आश्रय से जब गुहा के भीतर प्रवेश किया जाता है, तब ही अवट की पूर्ण खोद होती है, तब ही अन्तर्निहित रत्नों की उपलब्धि होती है और तब ही ब्राह्म ज्योतियों तथा शक्तियों का प्रकाशन होता है।

आत्मसत्ता के लिये प्रयुक्त विशेषण उसके स्वरूप की व्याख्या कर रहे हैं। आत्मसत्ता स्वरूपः से समस्त दिव्यताओं से युक्त एक नितान्त दिव्य सत्ता है, जो पृथिवी के सहस्थान में, देहरूपी पार्थिव सहस्थान में निवास कर रही है। जिसमें वह निवास कर रही है, उसी की उसे खोद—खोज करनी है।

२) (उखे) ! (देवानाम्) दिव्य-जनों की (विश्वदेव्य-वतीः देवीः पत्नीः) समस्त दिव्यताओं से युक्त दिव्य पत्नियां (त्वा दधतु) तुझे धारण करें (पृथिव्याः सध-स्थे) पृथिवी के सहस्थान में (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत् ।

पत्नी शब्द का प्रयोग रत्नगर्भा उखा में निहित रक्षाकारिणी सुवृत्तियों के लिये हुआ है। दिव्य जनों की दिव्यताओं से युक्त दिव्य वृत्तियां पार्थिव देह में निवास करती हुयी इसे धारण करें, ठीक वैसे ही जैसे आत्मसत्ता ब्रह्म को संधारण करती है। दिव्य जनों की ही वृत्तियां दिव्य तथा धारण-शील होती हैं। दिव्य वृत्तियों से ही उखा का धारण होता है। उखा के धारित होने पर ही आत्मसत्ता अपने पार्थिव सहस्थान में इसकी ब्रह्मवत् खोद—खोज कर पाती है।

३) (उखे) (विश्वदेव्य-वतीः देवीः धिषणाः) समस्त

दिव्यताओं से युक्त दिव्य धिषणायें (त्वा अभि-इन्धताम्) तुझे सर्वतः प्रज्वलित—प्रकाशित करें (पृथिव्याः सध-स्थे) पृथिवी के सहस्थान में (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत् ।

धिषणाः नाम उन प्रशस्त वाणियों का है जो प्रज्ञा द्वारा प्रेरित होती हैं । दिव्यताओं से संदिव्य धिषणायें जीवन-उखा का प्रज्वलन अथवा सर्वांगीण प्रकाशन करती हैं । धिषणाओं की प्रबुद्ध प्रेरणाओं से प्रेरित होकर ही आत्मसत्ता अपने इस पार्थिव सहस्थान में इसकी ब्रह्मवत् खोद—खोज कर पाती है ।

४) (उखे) ! (विश्वदेव्य-वतीः देवीः वरूत्रीः) समस्त दिव्यताओं से युक्त दिव्य वरणीयतायें (त्वा श्रपयन्तु) तुझे पकायें (पृथिव्याः सध-स्थे) पृथिवी के सहस्थान में (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत् ।

दिव्यताओं से युक्त दिव्य वरणीयतायें जीवन-उखा को परिपक्व करती हैं । वरणीय आचार, विचार और व्यवहार से यह उखा पक्की—अटूट बनी रहती है । इसके सर्वतः परिपक्व रहने पर ही आत्मसत्ता अपने इस पार्थिव सहस्थान में इसकी ब्रह्मवत् खोद—खोज कर पाती है ।

५) (उखे) ! (विश्वदेव्य-वतीः देवीः ग्नाः) समस्त दिव्यताओं से युक्त दिव्य ग्नायें (त्वा पचन्तु) तुझे पचायें (पृथिव्याः सध-स्थे) पृथिवी के सहस्थान में (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत् ।

ग्नाः नाम ज्ञान-विवेकप्रदायिनी वाणियों का है । दिव्यताओं से संदिव्य विवेकवाणियां प्रत्यक्षतः जीवन-उखा का पाचन करती हैं, उसमें पाचनशक्ति का संचार करती हैं, उसमें उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव को पचाने की क्षमता का सम्पादन करती हैं । तब ही आत्मसत्ता अपने इस पार्थिव सहस्थान में इसकी ब्रह्मवत् खोद—खोज करती है ।

६) (उखे) ! (विश्वदेव्य-वतीः अच्छिन्न-पत्राः देवीः जनयः) समस्त दिव्यताओं से युक्त अच्छिन्नपत्र दिव्य प्रतीतियां (त्वा पचन्तु) तुझे पचायें (पृथिव्याः सध-स्थे) पृथिवी के सहस्थान में (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत् ।

'अच्छिन्नपत्र प्रतीतियां' नाम उन साक्षात्कृतियों का है, जिनका एक भी पत्र—पर्व अप्रकट नहीं रहता है । दिव्यताओं से युक्त दिव्य स्पष्ट प्रतीतियां निस्सन्देह जीवन-उखा को पचाती हैं । तब ही आत्मसत्ता अपने इस पार्थिव सहस्थान में इसकी ब्रह्मवत् खोद—खोज कर पाती है ।

अवट ! खोदे तुझे ब्रह्मवत्
विश्वदेव्यवती देवी अदिति,
पृथिवी के सहस्थान में ।
उखे ! धारें तुझे ब्रह्मवत्
देवों की विश्वदेव्यवती दिव्य वृत्तियां,
पृथिवी के सहस्थान में ।
उखे ! ब्रह्मवत् तुझे प्रज्वलित करें सर्वतः
विश्वदेव्यवती दिव्य धिषणायें,
पृथिवी के सहस्थान में ।
उखे ! ब्रह्मवत् तुझे पकायें
विश्वदेव्यवती दिव्य वरूत्रियां,
पृथिवी के सहस्थान में ।
उखे ! पचायें तुझे ब्रह्मवत्
विश्वदेव्यवती दिव्य ग्नायें,
पृथिवी के सहस्थान में ।
उखे ! पचायें तुझे ब्रह्मवत्
विश्वदेव्यवती अच्छिन्नपत्रा
दिव्य प्रतीतियां,
पृथिवी के सहस्थान में ।

४६२ मित्रस्य चर्षणीधृतो ऽवो देवस्य सानसि । द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम् ॥
[ऋ ३.५९.६] य ११/६२
मित्रस्य चर्षणि-धृतः अवः देवस्य सानसि । द्युम्नम् चित्रश्रवः-तमम् ॥

ब्रह्मवत् खोदी—खोजी जाने पर ही प्रकट होता है कि यह उखा चर्षणि-धृत् दिव्य मित्र का सनातन चित्रश्रवस्तम द्युम्न है। इसी आशय का प्रकाशन करती हुयी वेदमाता कहती है—मानव! (चर्षणि-धृतः देवस्य मित्रस्य) मानव-धृत् दिव्य मित्र के (सानसि चित्रश्रवः-तमम् द्युम्नम्) सानसि चयनीय-श्रवः-तम द्युम्न को/की (अवः) रक्षा कर।

चर्षणि नाम मानव का है। एक दिव्य मित्र है जो मानवों द्वारा ही धारित होता है, जिसे मानव ही मित्ररूप में धारण करते हैं। वह दिव्य मित्र है ब्रह्म। ब्रह्म के प्रति आस्था, ब्रह्म के विषय में चिन्तन और चर्चा, ब्रह्म के साक्षात्कार की साधना मानवों द्वारा ही सम्भव है, अन्य प्राणियों द्वारा नहीं। इसीलिये ब्रह्म को 'चर्षणिधृत्' कहा गया है। वह सकल दिव्यताओं से युक्त हैं। जो मानव योग-विधि से उसकी यथावत् उपासना करते हैं, उसके 'वरेण्य भर्ग' और 'आदित्य वर्ण' का ध्यान करते हैं, वह उन्हें दिव्य दृष्टि प्रदान करके उन्हें मित्रवत् अपना दर्शन देता है।

जीवन-उखा जहां ब्रह्म के साक्षात्कार की साधना का साधन है, वहां यह उसके सानसि चित्रश्रवस्तम द्युम्न की खान भी है। 'सानसि' का अर्थ है स्वर्णिम, सनातन, अविनश्वर। चित्रश्रव-स्तम = चित्र + श्रवः + तम। चित्र = चयनीय। श्रवः = श्रवणीय, प्रशस्त। तम = अतिशय। द्युम्न = धन, ऐश्वर्य, द्युतिमय कोष। मानवजीवन-उखा सानसि चित्रश्रवस्तम ऐश्वर्यों का द्युतिमय कोष है, जिसमें सनातन ब्रह्म की शाश्वत, स्वर्णिम, प्रशस्ततम चयनीय सम्पदायें अन्तर्निहित हैं। प्रत्येक मानव को ऐसे कोष की सतर्कता के साथ रक्षा करनी चाहिये। इसे व्यर्थ व्यासंगों में बर्बाद न होने देना चाहिये।

रक्षा कर तू
मानवधृत् संदिव्य मित्र के
चित्रश्रवस्तम और सानसि
दिव्य कोष की।

४६३ देवस्त्वा सवितोद्वपतु सुपाणिः स्वङ्गुरिः सुबाहुरुत शक्त्या। अव्यथमाना पृथिव्यामाशा दिश आपृण॥ य ११/६३

देवः त्वा सविता उत्-वपतु सु-पाणिः सु-अंगुरिः सु-बाहुः उत शक्त्या। अ-व्यथमाना पृथिव्याम् आशाः दिशः आ-पृण॥

पूर्व-मन्त्र की उत्प्रेरणा से प्रेरित होकर प्रत्येक साधक अपनी जीवन-उखा को सम्बोधन करता है—

१) (सु-पाणिः) सु-हस्त, (सु-अंगुरिः) सु-अंगुलि (उत) और (सु-बाहुः) सु-बाहु (देवः सविता) देव सविता (शक्त्या त्वा उत्-वपतु) शक्ति से तुझे उद्वपे।

सविता नाम रचयिता, प्रेरक, संचालक और प्रकाशक का है। दिव्य गुणों से जो युक्त हो, वह देव है। अखिल सृष्टि का रचयिता, प्रेरक और प्रकाशक होने से परमात्मा 'देव सविता' है। जीवन-उखा का निर्माणकर्ता, संचालक और प्रकाशक होने से आत्मा 'देव सविता' है। यहां 'देव सविता' का प्रयोग साधक-साधिका के अपने दिव्य आत्मा के लिये हुआ है।

पाणि, अंगुलि, बाहु—इन तीन अवयवों का प्रयोग उपलक्षण से देहेन्द्रियों के लिये हुआ है। आत्मा हस्त, अंगुलि, बाहु, आदि समस्त इन्द्रियों को सदैव 'सु' रखे। सु-देहेंद्रियों से निष्पन्न रहने पर ही आत्मा लोक-परलोक की संसाधना करता है।

'सु—सुष्ठु—सुन्दर—स्वस्थ इन्द्रियों से सुयुक्त आत्मा तुझे शक्ति से उद्वपे',—उखा के प्रति यह बड़ी सुन्दर

कामना है। उद्वपन=उत्+वपन। उत्=उत्कृष्ट-तया। वपन=बोना। जिस प्रकार किसान अपनी शक्ति से अपनी भूमि में बीज का उद्वपन करता है, उसी प्रकार आत्मा अपनी आत्मशक्ति द्वारा अपनी उखा में सु का उद्वपन करे, उखा की प्रत्येक इन्द्रिय में सु—सुष्ठुता, सुन्दरता, शुभता, शोभनता, सु-अस्ति का सतत उद्वपन करता रहे, उखा की इन्द्रिय-इन्द्रिय में सु ही सु का संचार करता रहे।

२) और सु-इन्द्रियों तथा आत्मशक्ति से सुसज्ज मेरी जीवन-उखे! (अव्यथमाना) व्यथारहित तू (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (आशाः) अभिलाषाओं को, (दिशः) दिशाओं को (आ-पृण) पूरदे।

'व्यथ्' धातु का अर्थ है भयभीत होना, दुःखी होना, कांपना, विकल होना, घबराना, चंचल होना। जहां जीवन-उखा सु-इन्द्रियों तथा आत्म-संबल से सुसज्ज होती है, वहां व्यथा का क्या काम? वहां तो उखा सर्वथा अव्यथमाना=भयरहित, संशयमुक्त, दुःखरहित, सुखी, आनन्दी, अकम्प, अविकल, अविचल रहती है।

'मेरी जीवन-उखे! अव्यथमाना रहती हुयी तू सम्पूर्ण पृथिवी पर आशाओं और दिशाओं को पूरदे'—कितना उदार और उदात्त सम्बोधन है यह एक सच्चे योगसाधक का अपनी जीवनी के प्रति! जीवनी वही धन्य है जो सारी पृथिवी पर दशों दिशाओं में ज्ञान-विज्ञान और सुख-शान्ति पूर दे, जो सर्वमानवों की आशाओं को पूरी करे।

सुहस्त स्वंगुरि और सुबाहु देव सविता
तुझे शक्ति से सतत उद्वपे।
पूर दिशाओं आशाओं को
पृथिवी पर तू अव्यथमाना।

सूक्ति—पृथिव्यामाशा दिश आ पृण।
पृथिवी पर आशाओं और दिशाओं को पूरदे।

४६४ उत्थाय बृहती भवोदु तिष्ठ ध्रुवा त्वम्। मित्रैतां त उखां परिददाम्यभित्त्या एषा मा भेदि॥ य ११/६४

उत्थाय बृहती भव उत् उ तिष्ठ ध्रुवा त्वम्। मित्र एताम् ते उखाम् परि-ददामि अ-भित्यै एषा मा भेदि॥

जीवन-उखा के प्रति अपने सम्बोधन को जारी रखते हुये साधक कहे चला जारहा है—

(ध्रुवा त्वम्) ध्रुवा तू (उ उत् तिष्ठ) टुक उठ, टुक उच्चस्थ हो और (उत्थाय) उठकर, उच्चस्थ होकर (बृहती भव) बृहती हो, व्याप।

मांटी की यह हांडी, यह जीवन-उखा जब ध्रुवता से युक्त होजाती है तो बहुत ऊंची उठ जाती है और ऊंची उठकर विशालता—महानता को प्राप्त होजाती है। ध्रुवता जीवन का उत्थान करती है और उत्थित जीवनी विशालता के साथ विश्व में व्यापती है। तद्विपरीत अध्रुवता—अस्थिरता जीवनी को पतन की ओर लेजाती है। पतन में विशालता और व्याप्ति कहां? पतन तो जीवनी को संकुचित कर देता है और उसे सड़ा देता है। ध्रुवा—सुस्थिर—समाहित जीवनी ही उच्चता और विशालता से समलंकृत होकर विश्व को सुदेनों का दान करती है और अपनी भद्रताओं से विश्व में व्यापती है।

और अब साधक प्रभु से विनय करता है—(मित्र)! मैं (एताम् उखाम्) इस जीवन-उखा को (ते परि-ददामि) तेरे प्रति परिदान करता हूं, तेरे प्रति समर्पण करता हूं (अभित्यै) भयराहित्य के लिये, अटूटता के लिये।

मित्र शब्द का धात्वर्थ है स्नेह और मान करनेवाला। स्नेह और मान का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है। जहां स्नेह, वहां मान। जहां घृणा, वहां अवमान। स्नेह और सम्मान ही मित्रता का मूल है। जो आत्मना प्रभु से स्नेह करते हैं और सर्वभावेन उसके प्रति मान्यता रखते हैं, प्रभु उनका मित्रवत् पालन और रक्षण करता है, इसमें सन्देह

ही क्या है ? यह हो नहीं सकता कि कोई अपनी सम्पूर्ण मान्यता के साथ प्रभु से स्नेह करे और प्रभु परमस्नेही मित्र की तरह उसकी रक्षा न करे। संसारी मित्र तनिक-सी भूल या स्वार्थ-असिद्धि पर शत्रु बन जाते हैं। प्रभु ही एक ऐसा मित्र है जो सम्पूर्ण भावना से अपनाये जाने पर अनेक भूलें होने पर भी अपने भक्तों के प्रति मित्रभाव से वर्तता है और उन्हें भयरहित, अपि च अटूट—अडिग—ध्रुव रखता है। जिसने सर्वशक्तिमान् भगवान् को मित्ररूप में वरण कर लिया, वह निर्भय और ध्रुव होगया; उसकी जीवनी अभेद्य होगयी, ऐसी अभेद्य कि जिसमें दुरित, अभद्र, पाप प्रवेश नहीं कर पाते।

और प्रभु उत्तर देता है—साधक ! (एषा) इस [उखा] को (मा भेदि) मत फोड़, नष्ट न कर। यह उखा सर्व-धर्मसाधन है। इसे व्यर्थ व्यासंगों में यों ही न गंवा। इससे सर्वसाधनायें सिद्ध कर, लोक-परलोक की विजय सम्पादन कर।

ध्रुवा तू दृढ़ उठ,
उठकर तू बृहती हो।
मित्र ! तेरे प्रति
अर्पित करता हूं इस उखा को,
अभयार्थ, अभेद्यता-हेतु।
फोड़ न इसको।

४६५ वसवस्त्वाछृन्दन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद् रुद्रास्त्वाछृन्दन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वान्छृदन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद् विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा आछृन्दन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ य ११/६५

वसवः त्वा आ-छृन्दन्तु गायत्रेण छन्दसा अंगिरःवत् रुद्राः त्वा आ-छृन्दन्तु त्रै-स्तुभेन छन्दसा अंगिरःवत् आदित्याः त्वा आ-छृन्दन्तु जागतेन छन्दसा अंगिरःवत् विश्वे त्वा देवाः वैश्वानराः आ-छृन्दन्तु आनु-स्तुभेन छन्दसा अंगिरःवत् ॥

प्रभु ने अन्तःप्रेरणा की—साधक जीवन-उखा को व्यर्थ व्यासंगों में बर्बाद न कर। उस दिव्य प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर साधक पुनः अपनी जीवन-उखा को सम्बोधन करने लगते हैं—

१) (वसवः) आत्मधन के धनी (त्वा आ-छृन्दन्तु) तुझे सम्यक् दीप्त करें (गायत्रेण छन्दसा) प्राणरक्षण [जीवन-सार्थक्य] की भावना से (अंगिरःवत्) ब्रह्मवत्।

योग, तप, ज्ञान, ध्यान, कर्म, साधना, आत्मोन्नति—सब कुछ इस जीवन-उखा के माध्यम से ही किया जाता है, किन्तु तब जब इसे ब्रह्मवत् दीप्त रखा जाये, ब्रह्मलीनता के साथ इसे ब्राह्म गुणों से युक्त रखा जाये। आत्मधन के धनी जीवन-सार्थक्य की भावना से अपनी जीवन-उखा को सतत सन्दीप्त रखते हैं।

२) (रुद्राः) प्राणरूप योगी (त्वा आ-छृन्दन्तु) तुझे प्रज्वलित करें (त्रै-स्तुभेन छन्दसा) त्रि-प्रशस्तता की भावना से (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्।

मन, वचन, कर्म की प्रशस्तता की भावना का नाम ही त्रैष्टुप् छन्द अथवा त्रि-स्तुप् की भावना है। इस त्रित की प्रशस्तता के आश्रय से प्राण के समान निर्विकार योगी अपनी जीवन-उखा को प्रज्वलित करके उसमें ब्राह्म गुणों का समंकन करते हैं।

३) (आदित्याः) अदितिपुत्र योगी (त्वा आ-छृन्दन्तु) तुझे प्रकाशित करें (जागतेन छन्दसा) जगती के कल्याण की भावना से (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्।

समग्र अदिति [पृथिवी] को अपनी माता और समग्र मानव-प्रजा को अपना परिवार माननेवाले

योगी विश्वमंगल की भावना से अपनी जीवन-उखा को ब्राह्म प्रकाश से प्रकाशित करें, तब ही वे विश्व का वास्तविक कल्याण सम्पादन कर पायेंगे।

४) (वैश्वानराः विश्वे देवाः) विश्व का सुनयन करनेवाले सब देव (त्वा आ-छृन्दन्तु) तुझे समुज्ज्वल करें (आनु-स्तुभेन छन्दसा) स्तुत्याचरणानुसरण की भावना से (अंगिरस्वत्) ब्रह्मवत्।

अखिल विश्व का नेतृत्व करनेवाले योगी भी अपनी जीवन-उखा को समुज्ज्वल करके उसे ब्राह्म गुणों से युक्त करें, तब ही वे वास्तविक रूप से विश्व का सुनयन कर पायेंगे।

वसु तुझे प्रदीप्त करें
गायत्री छन्द से अंगिरस्वत्।
रुद्र तुझे प्रज्वलित करें
त्रै-स्तुप् छन्द से अंगिरस्वत्।
करें तुझे आदित्य प्रकाशित
जागत छन्द से अंगिरस्वत्।
वैश्वानर सब देव समुज्ज्वल
करें तुझे आनु-स्तुप् छन्द से
अंगिरस्वत्।

४९६ आकूतिमग्निं प्रयुजं स्वाहा मनो मेधामग्निं प्रयुजं स्वाहा चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुजं स्वाहा वाचो विधृतिमग्निं प्रयुजं स्वाहा प्रजापतये मनवे स्वाहाग्नये वैश्वानराय स्वाहा ॥

य ११/६६

आ-कूतिम् अग्निम् प्र-युजम् स्वाहा मनः मेधाम् अग्निम् प्र-युजम् स्वाहा चित्तम् वि-ज्ञातम् अग्निम् प्र-युजम् स्वाहा वाचः वि-धृतिम् अग्निम् प्र-युजम् स्वाहा प्रजापतये मनवे स्वाहा अग्नये वैश्वानराय स्वाहा ॥

शोधन के उपरान्त ही 'स्वाहा' की सार्थकता है। यज्ञस्थल, यज्ञवेदि, घृत, सामग्री, समिधा तथा पात्रादि को शोधकर जब यज्ञ किया जाता है तो सब ओर सुगन्धि की व्याप्ति और जलवायु तथा वातावरण की शुद्धि होती है। अशुद्ध स्थान में अशुद्ध वस्तुओं से जब यज्ञ किया जाता है तो विपरीत फल होता हैं।

पूर्वमन्त्रानुसार वसुओं ने जीवन-सार्थक्य की भावना से, रुद्रों ने मन-वचन-कर्म की प्रशस्तता की भावना से, आदित्यों ने जगती के कल्याण की भावना से, वैश्वानर देवों ने स्तुत्याचरणानुसरण की भावना से अपनी-अपनी जीवन-उखा को समुज्ज्वल किया है। अपनी विशुद्ध जीवनियों से अब वे उस योगयाग का अनुष्ठान करेंगे जिससे जनजीवन सिद्ध—सार्थक होंगे, जिससे जनजीवनों में मन-वचन-कर्म की प्रशस्तता की स्थापना होगी, जिससे जनमंगल की साध का पथ प्रशस्त होगा, जिससे विश्व में सत्याचरण के अनुसरण की भावना संव्याप्त होगी। इसी दिव्याशय से वसु, रुद्र, आदित्य और वैश्वानर देवों के मुख से वेदमाता कहलवा रही है—

१) हम वसु जन जीवन-सार्थक्य की भावना की व्याप्ति के लिये (प्र-युजम् आ-कूतिम् अग्निम्) सुयुक्त संकल्प अग्नि को (स्वाहा) सुहुत करते हैं।

जीवन-उखा की सार्थकता योग-पद्धति से जीवन-यापन करने में निहित है, मानव-प्रजा में इस भावना की व्याप्ति के लिये वसुओं को जन-जन के संकल्पाग्नि को सुयुक्त करके उसमें योग-प्रशिक्षण तथा योगोपदेशों की आहुतियां देनी होंगी, तब ही मानव-जीवन की सार्थकता का विवेक जनजीवन में जागरित होगा।

२) हम रुद्र जन मन-वचन-कर्म की प्रशस्तता की व्याप्ति के लिये (मनः प्र-युजम् मेधाम् अग्निम्) मनसहित सुयुक्त मेधा अग्नि को (स्वाहा) सुहुत करते हैं।

मानव-प्रजा में मन-वचन-कर्म की प्रशस्तता की स्थापना के लिये रुद्रों को मनसहित उनकी मेधा अग्नि को सुयुक्त करके उसमें तदनुरूप साधना की सु-आहुतियां देनी होंगी।

३) हम आदित्य जन जगती में आत्मकल्याण की भावना की व्याप्ति के लिये (प्र-युजम् वि-ज्ञातम् चित्तम् अग्निम्) सुयुक्त चेतनामय चित्त अग्नि को (स्वाहा) सुहुत करते हैं।

सर्वकल्याण और सर्वमंगल निस्सन्देह तब ही सम्भव होगा जब आदित्य विश्व के मानवों के चित्त को चेतनायुक्त तथा सुयुक्त करके उसमें ज्ञान-विज्ञान की सतत सु-आहुतियां देंगे।

४) हम वैश्वानर देव सत्याचरण के अनुसरण की व्याप्ति के लिये (वाचः प्र-युजम् वि-धृतिम् अग्निम्) वचनों सहित सुयुक्त विधृति अग्नि को (स्वाहा) सुहुत करते हैं।

धृति=धारणा। वि-धृति=वि-धारणा, विविध साधों को एक साथ सिद्ध करानेवाली धारणा। मानव-प्रजा में सत्याचरण के अनुसरण की वृत्ति की स्थापनार्थ वैश्वानर देवों को वचनोंसहित मानव-मानव की विधारणा-अग्नि को सुयुक्त करके उसमें बोध-प्रबोध की सतत सु-आहुतियां देनी होंगी, मानवों की कथनियों में कर्तृत्व की विधारणा स्थापित करनी होगी।

उपर्युक्त चार अग्नियों को सुहुत करने से विश्व के मानवों में समर्पण की भावना जागरित होगी और वे मानवहितैषियों तथा विश्व का सुनयन करनेवालों के प्रति श्रद्धान्वित होंगे। इस अभिप्राय के द्योतन के लिये वेदमाता सर्व जनों के मुख से कहलवा रही है—

१) हम (प्रजापतये मनवे स्वाहा) प्रजापति मनु के लिये सुहुत हैं। हम उसके चरणों में स्व-सर्वस्व अर्पण करते हैं।

जो मानव मानव-प्रजाओं को प्यार करता है, उनकी सर्वतः रक्षा करता है, उसकी संज्ञा 'प्रजापति मनु' है। मनु का अर्थ है मननशील मानव। मानव-परिवार में सचमुच 'प्रजापति मनु' का पद सर्वोपरि है। किसी एक देश-विशेष अथवा वर्ग-विशेष की नहीं, सम्पूर्ण पृथिवी की मानव-प्रजा को जो समानरूप से प्यार करता है और मनन-पूर्वक जो सर्वमानवों को विशुद्ध मानवता तथा जीवन की योगपद्धति से अलंकृत करके उनके जीवनों की सर्वतः रक्षा करता है, वही 'प्रजापति मनु' है। ऐसे मनु के प्रति अर्पित होने में मानवों की रक्षा सुरक्षित होती है।

२) हम (वैश्वानराय अग्नये स्वाहा) वैश्वानर अग्नि के लिये सुहुत—अर्पित हैं।

'वैश्वानर' का अर्थ है विश्व का सुनयन करने-वाला। 'अग्निर्वै अग्रणीर्भवति।' अग्नि शब्द का प्रयोग यहां अग्रणी नेता के लिये हुआ है। 'प्रजा-पतिर्वै वैश्वानरः।' प्रजापति ही वैश्वानर है। 'मनुर्वै अग्निः।' मनु ही अग्रणी है, नेता है। जो विश्व के मानवों का सुनयन करता है, जो जीवन की सार्थक साधना में उनका प्रणेता है, ऐसे मानव के प्रति सर्वात्मना अर्पित रहने में ही मानव-जाति का वास्तविक कल्याण है।

सुहुत सुयुक्त संकल्प अग्नि को,
सुहुत मनसहित सुयुक्त मेधा अग्नि को,
सुहुत सुयुक्त विज्ञात चित्त अग्नि को,
सुहुत वचनोंसहित सुयुक्त विधृति अग्नि को।
स्वाहा प्रजापति मनु के लिये,
स्वाहा वैश्वानर अग्नि के लिये।

सूक्ति—प्रजापतये मनवे स्वाहा।
प्रजापालक मानव के लिये अर्पण।
अग्नये वैश्वानराय स्वाहा।
विश्वनायक नेता के लिये अर्पण।

४६७ विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम् ।
विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा ॥
[ऋ ५.५०.१, य ४/८, २२/२१] य ११/६७

विश्वः देवस्य नेतुः मर्तः वुरीत सख्यम् । विश्वः राये इषुध्यति द्युम्नम् वृणीत पुष्यसे स्वाहा ॥

प्रजापति मनु अथवा वैश्वानर अग्नि मानव-मानव को उद्बुद्ध करता है—

१) (विश्वः मर्तः) सब मर्त, सभी मानव-समाज (नेतुः देवस्य) नेता देव की (सख्यम् वुरीत) सख्यता वरण करे।

२) (विश्वः) सब कोई (राये इषुध्यति) रै के लिये बाण चलाता है।

३) मनुष्य को चाहिये (द्युम्नम् वृणीत) द्युम्न वरण करे।

४) तू (स्वाहा पुष्यसे) स्वाहा द्वारा पुष्ट होवे। ['पुष्यसे' क्रिया लेट् लकार का रूप है, जिसका प्रयोग केवल वेद में होता है]।

अखिल सृष्टि का नयन—संचालन करनेवाला होने से प्रभु 'नेता देव' है।

'रै' और 'द्युम्न' दोनों शब्द ऐश्वर्यवाची हैं। रै नाम उस ऐश्वर्य का है जिसकी प्राप्ति के लिये किये संघर्ष से मन खिन्न होता है। द्युम्न नाम उस ऐश्वर्य का है जो मन की द्युति अथवा प्रसन्नता के साथ प्राप्त किया जाता है और जिससे मन सदा सुप्रसन्न रहता है। प्रत्यक्षतः 'रै' से तात्पर्य भौतिक ऐश्वर्य से है और 'द्युम्न' से तात्पर्य है ब्राह्म [अध्यात्म] ऐश्वर्य से।

आज ही नहीं, सदा से सभी मनुष्य शिकारी की तरह भौतिक धन का शिकार करने के लिये तीर-कमान धारण किये मारे-मारे फिरा करते हैं। वे भूल जाते हैं कि आत्मिक ऐश्वर्य के बिना भौतिक ऐश्वर्य सदैव भोग, रोग और क्लेश का ही कारण बनते हैं। मानव के आत्मा को जगाकर उसे अध्यात्म-सेवी बनाने के अभिप्राय से प्रजापति मनु ने यहां कहा है—'सम्पूर्ण मानव-प्रजा को चाहिये वह 'नेता देव' की सख्यता वरण करे। माया को वह केवल काया की सुख-सुविधा का साधन बनाये और आत्मानन्द की प्राप्ति के लिये अपने अन्तर्यामी प्रभु को अपना आत्मसखा बनाये।' मानव रै की प्राप्ति के लिये ही तीर न चलाता फिरे, द्युम्न की प्राप्ति की साधना को जीवन का लक्ष्य बनाये। रै विनश्वर है और यहां-का-यहीं रह जाता है। द्युम्न ही है जो साथ जाता है।

'स्वाहा पुष्यसे—तू स्वाहा से पुष्ट होवे' में एक गहन तत्त्वबोध निहित है। 'आत्मन्, तू रै के सेवन से नहीं, उसके त्याग से पुष्ट—परिपुष्ट होगा।' रै [भौतिक सम्पदा] से तो भौतिक देह का पुष्टीकरण होता है। वह तो अध्यात्म सम्पदा है जो आत्मा को पुष्ट करती है। भौतिक भोग के सेवन से नहीं, उसके स्वाहा [त्याग] से द्युम्न की साधना होती है।

वरण करे सब कोई मानव
नेता देव की सख्यता को।
रै के लिये सब कोई
तीर चलाता,
वरण द्युम्न को करे सुमानव।
होवे पुष्ट स्वाहा से तू।

सूक्ति—देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम्।
मनुज नेता देव की सख्यता वरण करे।
विश्वो राय इषुध्यति।
सब कोई भौतिक धन के लिये तीर चलाता है।
द्युम्नं वृणीत।
मनुष्य आत्मैश्वर्य वरण करे।
पुष्यसे स्वाहा।
आत्मन्! तू त्याग से पुष्ट होगा।

४६८ मा सु भित्था मा सु रिषो ऽम्ब धृष्णु वीरयस्व सु । अग्निश्चेदं करिष्यथः ॥
य ११/६८

मा सु भित्थाः मा सु रिषः अम्ब धृष्णु वीरयस्व सु । अग्निः च इदम् करिष्यथः ॥

प्रजापति मनु के उद्बोधन से उद्बुद्ध होकर प्रत्येक मानव विनय करने लगता है—(अम्ब) मातः! मुझे द्युम्न से (मा सु भित्थाः) मत सुभेद, पृथक् नः कर, वंचित न रख, (मा सु रिषः) मत सुहिंस, आत्महानि से बचा।

पूर्व-मन्त्र में जिस परमात्मदेव को 'नेता देव' कहा गया है, उसी को यहां 'अम्ब' कहकर सम्बोधन किया गया है। वेद में परमात्मा को जहां पिता कहा है, वहां उसे माता भी कहा है—'त्वं हि न पिता वसो त्वं माता शतक्रतो' (अ २०.१०८.२)। माता का मंगलमय स्नेह सर्वोपरि है। इसी भाव से भावित होकर प्रभु को 'अम्ब' शब्द से सम्बोधन करके विनय की गयी है, 'मातः! हमें द्युम्न से वंचित न रख, हमें अध्यात्म-धन का धनी बना। अध्यात्म-धन से वंचित रहने में अपार आत्म-हानि है।'

परमेश्वरी माता अपने मानव-पुत्र को दुलारती हुयी कहती है, 'द्युम्न की प्राप्ति के लिये (धृष्णु) धृष्णुहि, धर्षण कर, (सु वीरयस्व) सुवीरता सुपराक्रम कर।

भय, संशय और झिझक से मुक्त होकर आत्म-विश्वास के साथ जो साधना की जाती है, उसका नाम 'धर्षण' है। सुष्ठुता के साथ विजय-साफल्य के लिये सतत साधना का नाम 'सुपराक्रम' है।

'द्युम्न की प्राप्ति के लिये धर्षण कर, सुपराक्रम कर', विनय के उत्तर में अम्ब का यह आदेश प्रार्थनाविज्ञान का सुन्दर स्पष्टीकरण है। यथा प्रार्थना तथा साधना। प्रार्थना के अनुरूप साधना की जाती है, तब ही प्रार्थना सार्थक सिद्ध होती है। द्युम्न की प्राप्ति के लिये सप्रार्थना सतत साधना की जानी चाहिये।

परमेश्वरी माता के सजीव आदेश से उत्प्रेरित होकर विनयकर्ता अपने जीवन को सम्बोधन करता हुआ कहता है—तू मेरा (अग्निः) आत्माग्नि (च) और [तू मेरा] (इदम्) यह [शरीर]—तुम दोनों धर्षण तथा सुपराक्रम अवश्य (करिष्यथः) करोगे।

आत्मा साधक है। शरीर साधना का साधन है। वह कौन-सी साध है जो आत्मचेतना और शरीर-साधना द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती ?

मातः,
न सुभेद, न सुहिंस।
धर्षण और सुपराक्रम कर।
अग्नि और यह देह, साधना
तुम दोनों अवश्य करोगे।
सूक्ति—धृष्णु वीरयस्व सु।
धर्षण कर, सुवीरता कर।

४६९ दृंहस्व देवि पृथिवि स्वस्तय आसुरी माया स्वधया कृतासि।
जुष्टं देवेभ्य इदमस्तु हव्यमरिष्टा त्वमुदिहि यज्ञे अस्मिन् ॥ य ११/६९

दृंहस्व देवि पृथिवि स्वस्तये आसुरी माया स्वधया कृता असि।
जुष्टम् देवेभ्यः इदम् अस्तु हव्यम् अरिष्टा त्वम् उत्-इहि यज्ञे अस्मिन् ॥

विनयकर्ता साधनाशील मानव आत्मा तथा शरीर के संयोग से सुनिष्पन्न अपनी जीवनी को सम्बोधन करता हुआ कहे चला जा रहा है—

१) (देवि पृथिवि)! तू (स्व-धया) स्व-धारणा से, आत्म-संयोग से (आसुरी माया कृता असि) आसुरी माया निष्पादिता है।

'पृथिवी' का अर्थ है विस्तार करनेवाली। सुविस्तृता होने से भूमि का भी नाम पृथिवी है। दिव्यताओं से जो युक्त हो और दिव्यताओं का जो प्रसार करे, वह देवी है। साधक द्युम्न अथवा आत्मधन को साधना के महत्त्व को समझता हुआ अपनी जीवनी को दिव्यताओं से युक्त करके दिव्यताओं का विस्तार—प्रसार करनेवाली कह रहा है।

'असु' नाम प्राण का है। मानव की देवी पृथिवी, दिव्य जीवनी आसुरी माया, प्राणीय कौशल है। प्राण के ऐसे सूक्ष्म सूत्र से, जो आंख से दिखायी भी नहीं देता है, यह जीवनी सूत्रित है। प्राण के सूत्र से निष्पादिता यह जीवनी अपनी दिव्य साधना द्वारा द्युम्न की, अध्यात्म-धन की प्राप्ति कराये, यही सार है। पता नहीं कब एक झटका लगे और प्राण का अदृश्य पतला धागा टूट जाये, प्राणी निष्प्राण होजाये।

२) जीवनि देवि! तू आत्मा के संयोग से प्राण के कौशल द्वारा निष्पादिता है। प्राण के अदृश्य धागे के आश्रय से तू चल रही है। प्राण के चलते रहते तू (स्वस्तये) स्वस्ति के लिये (दृंहस्व) दृढ़ हो, विकसित हो, व्याप।

स्वस्ति=सु-अस्ति, सु-अस्तित्व। जिसकी अस्ति [हस्ती], जिसका अस्तित्व सु—सुष्ठु—सुन्दर हो और जिसकी अस्ति [जीवनी] से सु—सुष्ठुता—सुन्दरता का प्रसार—विस्तार—व्याप्ति हो वह स्वस्ति है। सर्व की स्वस्ति के लिये मानव-मानव अपनी अस्ति को स्वस्ति [सु-अस्ति] बनाये। जो स्वयं स्वस्तियुक्त नहीं है वह सर्व को स्वस्तियुक्त करने की साध की सफल साधना न कर सकेगा। विश्व की स्वस्ति के लिये साधक-कोटि का प्रत्येक मानव अपनी जीवनी देवी को सर्वतः सुदृढ़, सुविकसित तथा व्यापनशील बनाये। दृढ़ जीवनी ही दृढ़ता तथा सातत्य के साथ स्वस्ति का विकास और उसकी व्याप्ति कर सकती है।

३) दिव्यताओं की व्याप्ति तथा स्वस्ति की संव्याप्ति के लिये साधक-मानव ने अपनी जीवनी को दिव्य तथा स्वस्ति-सम्पन्न बनाया है। परिणाम-स्वरूप उसकी जीवनी हव्यरूपा होगयी है। वह आत्मकामना करता है—(इदम् हव्यम्) यह हव्य, यह जीवनहवि, यह यज्ञीय जीवन (देवेभ्यः) मानव-देवों के लिये, दिव्यताओं की व्याप्ति के लिये (जुष्टम्) सप्रेम सेवित—सेवनीय (अस्तु) हो। जिस प्रकार शुद्ध—पवित्र हवि के यज्ञाग्नि में होमी जाने पर वह दिव्यताओं की, दिव्य सुगन्धियों तथा दिव्य परिणामों की व्याप्ति करती है, उसी प्रकार मेरी इस जीवन-हवि से उन दिव्यताओं की व्याप्ति हो, जिनका सभी मानव-देव सप्रेम आस्वादन करें।

४) और अब वह पुनः अपनी जीवनी को सम्बोधन करता है—जीवनि देवि! दिव्यताओं की व्याप्ति के लिये (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में, इस अनुष्ठान में, इस संसाध में (त्वम्) तू (अरिष्टा) अविनाश-शीला, विनाश से रक्षा करनेवाली [होकर] (उत्-इहि) उद्गमन कर, उदित—उत्थित हो, उदय को प्राप्त रह।

सतत उदयशीला जीवनी ही उदयशीलसूर्यवत् संसार में शुभ्र और शुद्ध प्रकाश का प्रकाशन करती है, दिव्यताओं और स्वस्तियों की किरणों का प्रसारण करती है। ऐसी जीवनी ही मानवों की विनाश से रक्षा करके उन्हें अविनाश की, सतत भद्र की प्राप्ति कराती है।

देवि पृथिवि,
दृंहस्व स्वस्ति के लिये
तू है कृता आसुरी माया
आत्मयोग से।
हव्य यह देवों के लिये
प्रीतिपूर्वक सेवित होवे।
इस सुसाध में तू अविनाशिनी
सतत उदित रह।

सूक्ति—जुष्टं देवेभ्य इदमस्तु हव्यम् ।
यह हव्य देवों के लिये प्रीतिपूर्वक सेवित होवे ।

त्वमुदिहि ।
तू उदित हो ।

५०० द्रुन्नः सर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः । सहसस्पुत्रो अद्भुतः ॥

[ऋ २.७.६] य ११/७०

द्रु-अन्नः सर्पिः-आ-सुतिः प्रत्नः होता वरेण्यः । सहसः पुत्रः अद्भुतः ॥

अब विनयकर्ता साधनाशील मानव अपनी जीवनी में अन्तर्निहित आत्माग्नि को सम्बोधन करता हुआ कहता है—

१) तू (द्रु-अन्नः) काष्ठ-अन्न है, काष्ठ-सेवी है, शरीररूपी काष्ठ के आश्रय से प्रज्वलित होता है। काष्ठ में अन्तर्निहित अग्नि जिस प्रकार काष्ठ-समिधा में प्रज्वलित होता है, उसी प्रकार तू जीवनी-काष्ठ में प्रकाशित होता है। समिधा-काष्ठ के बिना जिस प्रकार अग्नि प्रकाशित नहीं होता है, उसी प्रकार जीवनी-समिधा के बिना आत्मा भी प्रकाशित नहीं होता है।

२) तू (सर्पिःआ-सुतिः) घृत-क्षर है।

सर्पि नाम घृत का है। 'आ-सुति' का अर्थ है निःसरण, क्षरण। घृत तैजस होता है। आत्मा तेजक्षर है। उसमें से तेज का सतत निःसरण होता रहता है, क्योंकि वह तेजस्वरूप है।

३) तू (प्रत्नः होता) सनातन होता है, जीवनयज्ञ का सनातन निष्पादक है। नश्वर देहयज्ञ में आत्मा की ही सत्ता सनातन—अविनाशी है।

४) तू (वरेण्यः) वरणीय है। जीवनी में जो वरणीयता—शोभनीयता है, वह आत्मा की ही है। आत्मा ही जिज्ञासितव्य है, दर्शनीय है, वरणीय है।

५) तू (सहसः पुत्रः) शक्ति का पुत्र है, शक्ति का पुतला है, शक्ति-पुञ्ज है। आत्मा की शक्ति ही शरीर को शक्तिमान् बनाती हैं।

६) तू (अद्भुतः) आश्चर्यजनक है। आत्मवित् ही तेरे विस्मयकारी स्वरूप का, अपि च तेरी महिमा का साक्षात् अनुभव करते हैं।

काष्ठान्न तू,
तू है घृतक्षर और सनातन होता।
तू वरेण्य शक्ति का पुतला,
तू है अद्भुत।

५०१ परस्या अधि संवतो ऽवराँ अभ्यातर । यत्राहमस्मि ताँ अव ।

[ऋ ८.७५.१५] य ११/७१

परस्याः अधि सम्-वतः अवरान् अभि-आ-तर । यत्र अहम् अस्मि तान् अव ॥

विनयकर्ता साधनाशील मानव अपने आत्माग्नि को सम्बोधन किये चला जारहा है—(परस्याः अधि) उत्कृष्टा [स्थिति] के ऊपर अधिष्ठित [रहता हुआ] (सम्-वतः अवरान्) संविभक्त निकृष्टों को, समाहिति-विरोधी नीच भावों को (अभि-आ-तर) सर्वतः लांघ। (यत्र अहम् अस्मि) जहां मैं हूं, (तान् अव) उन्हें बचा, उनकी रक्षा कर।

साधनाशील मानव की यह परमोत्कृष्ट साध है। वह सदैव अपने आत्माग्नि को उत्कृष्टा स्थिति में अधिष्ठित रखता है, आत्मसमाहिति को विभक्त—विच्छिन्न करनेवाले निकृष्ट भावों का सतत अतिक्रमण करता रहता है, वह जहां भी उपस्थित होता है वहीं उसका आत्मा सर्व जनों का पाप और ताप से, अज्ञान और अन्धकार से, विकार और

विलास से रक्षण अथवा त्राण करता है। जीवन-योगपद्धति के पथ के प्रशस्तीकरण की यही अमोघ साधना है। प्रबुद्ध आत्माग्नि की यही उत्कृष्ट स्थिति तथा उच्च साध है।

रहता हुआ अधिष्ठित
प्रकृष्टा स्थिति के ऊपर,
लांघ सर्वतः संविभक्त अवरों को।
हूं मैं जहां,
उनकी सम्यक् रक्षा कर।

सूक्ति—यत्राहमस्मि ताँ अव।
मैं जहां हूं, उन लोगों की रक्षा कर।

५०२ परमस्याः परावतो रोहिदश्व इहागहि। पुरीष्यः पुरुप्रियो ऽग्ने त्वं तरा मृधः॥

य ११/७२

परमस्याः परा-वतः रोहित्-अश्वः इह आ-गहि। पुरीष्यः पुरु-प्रियः अग्ने त्वम् तर मृधः॥

आत्माग्नि के प्रति अपने सम्बोधन को जारी रखते हुये साधनाशील मानव कहे चला जारहा है—(अग्ने) आत्माग्ने! (रोहित्-अश्वः) रोहित्-अश्व, (पुरीष्यः) श्रीप्रापक, (पुरु-प्रियः) बहु-प्रिय (त्वम्) तू (परमस्याः परावतः) परमा के दूर देश से (इह आ-गहि) यहां आ, (मृधः तर) हिंसकों को लांघ।

'रोहित्-अश्व' नाम उस पंखदार उड़ने घोड़े का है जो आकाश में ऊपर को उड़ता है, पृथिवी पर नहीं दौड़ता है। आत्मा पार्थिव नहीं, अपार्थिव—अभौतिक तथा अमृत—अविनाशी है। उसी की शक्ति—क्षमता है कि पार्थिव मानव-देह में अध्यात्म-साधना के पंख से विष्णु के परम धाम की ओर ऊंचा उड़ सके।

श्री नाम शोभा, सौन्दर्य, ऐश्वर्य का है। आत्मा पुरीष्य है, श्रीप्रापक है। जीवनी में जो शोभा, सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य है वह सब आत्मा का ही है और आत्मा से ही है।

आत्मा पुरु-प्रिय है। जीवन-पुर में निवास करनेवाली जितनी इन्द्रियें हैं, वे सब आत्माग्नि को बहुत प्यार करती हैं। तभी तो जब आत्मा शरीर को छोड़ने लगता है तो सारी इन्द्रियां आकुल—व्याकुल हो जाती हैं और जब आत्मा शरीर को छोड़कर चला जाता है तो वे निर्जीव होजाती हैं।

आत्म-अबोध अथवा आत्मविस्मृति ही परमा की दूरी है। परमा नाम परमता अथवा परम लक्ष्य का है। आत्मविस्मृति आत्मा को परम लक्ष्य से दूर लेजाती है। जीवन में आत्मबोध की प्राप्ति ही आत्मा का परमा की दूरी से 'यहां, जीवन में' लौट कर आना है। जब आत्मबोध होजाता है तो जीवन-सदन में बसे हिंसकों का, पाप-विकार-वासनादि आत्महिंसक अन्तःशत्रुओं का हनन—निराकरण होजाता है। यह कितना सुन्दर आत्मगीत है—

आत्माग्ने,
रोहिदश्व, पुरीष्य, बहुप्रिय तू
परमा की दूरी से यहां आ,
हिंसकों को लांघ।

५०३ यदग्ने कानिकानि चिदा ते दारुणि दध्मसि। सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य॥

[ऋ ८.१०२.२०]

य ११/७३

यत् अग्ने कानि-कानि चित् आ ते दारुणि दध्मसि। सर्वम् तत् अस्तु ते घृतम् तत् जुषस्व यविष्ठ्य॥

आत्मसम्बोधन की शृंखला में यह एक अतिशय मार्मिक उद्बोधन है—

१) (यविष्ठ्य अग्ने) युवतम आत्माग्ने! हम (यत्) जब (कानि-कानि चित्) किन्हीं-किन्हीं भी (दारुणि)

दारुण साधनाओं को (ते आ दध्मसि) तेरे लिये धारण करें, (तत् सर्वम् ते घृतम् अस्तु) वह सब तेरा घृत हो।

२) तू (तत्) उसे (जुषस्व) सप्रेम सेवन कर।

आत्माग्नि युवतम है, बलवत्तम है। वह बुद्धि, मन, चित्त, शरीर सबका शासक है और कभी जीर्ण नहीं होता है।

साधक जन आत्मोत्थान तथा आत्म-प्रकाशन के लिये बड़ी-बड़ी दारुण साधनायें धारण करते हैं। वह सब घृतवत् आत्मा को प्रज्वलित—प्रकाशित करनेवाला हो और आत्मा उस सबका प्रीतिपूर्वक सेवन—स्वीकार करे।

जिस प्रकार अप्रज्वलित अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये उसमें घृत की आहुतियां दी जाती हैं, उसी प्रकार आत्मप्रबोध के लिये आत्मा में कठोर योगसाधनाओं की आहुतियां दी जाती हैं। तब जाकर वह आत्मस्वरूप में अवस्थित होकर प्रकाशता है और साधनाघृत का सरुचि सेवन करता है। दारुण साधनायें ही हैं जो आत्मओज को प्रज्वलित और आत्मप्रकाश को प्रकाशित करती हैं।

युवतम अग्ने,
किन्हीं-किन्हीं भी दारुणों को
जब तेरे प्रति निहित करें हम,
वह सब हो तेरा घृत,
उसको तू सप्रेम सेवन कर।

५०४ यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति। सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य॥
[ऋ ८. १०२. २१] य ११/७४

यत् अत्ति उप-जिह्विका यत् वम्रः अति-सर्पति। सर्वम् तत् अस्तु ते घृतम् तत् जुषस्व यविष्ठ्य॥

यहां पुनः कितना सुन्दर आत्मसम्बोधन है—

१) (यविष्ठ्य) युवतम आत्माग्ने! (यत्) जिस [काष्ठ] को (उप-जिह्विका अत्ति) दीमक खा जाती है, (यत्) जिस [काष्ठ] को (वम्रः अति-सर्पति) घुन अतिसर्पता [व्याप जाता] है, (तत् सर्वम् ते घृतम् अस्तु) वह सब तेरा घृत [प्रज्वलन-साधन] हो।

जिस काष्ठ को दीमक खा जाती है या घुन लग जाता है, उस काष्ठ की भी समिधायें घृत की आहुति से प्रज्वलित हो जाती हैं।

मानव-जीवन वह काष्ठ है जिसे वासनाओं की दीमक खाये चली जारही है और चिन्ताओं का घुन व्यापता रहता है। युवतम आत्माग्नि में वह क्षमता है कि साधना के घृत से सुप्रकाशित करके उसे विश्व में व्याप दे। मरणासन्न जीवन को भी आत्मा स्वस्थ और सुन्दर बनाकर उसे घृतवत् प्रज्वलित तथा प्रकाशित कर सकता है।

२) तू (तत् जुषस्व) उसे सप्रेम सेवन कर।

आत्मा-आत्मा को चाहिये सर्वधर्मसाधन अपने जीवन-काष्ठ को प्यार करे और उसे सप्रेम सेवन करे। जीवन के प्रति अवहेलना अथवा लापरवाही एक भारी भूल है। जीवन का जीर्णोद्धार एक पवित्र साधना है।

युवतम,
जिसे है दीमक खाती,
अतिसर्पता है घुन जिसको,
वह सब हो घृत तेरा,
उसको तू सप्रेम सेवन कर।

५०५ अहरहरप्रयावं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तोऽग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषाम॥ य ११/७५

अहःअहः अ-प्रयावम् भरन्तः अश्वाय-इव तिष्ठते घासम् अस्मै।
रायः पोषेण सम् इषा मदन्तः अग्ने मा ते प्रति-वेशाः रिषाम॥

आत्मसम्बोधन को जारी रखते हुये कहा जारहा है–
१) (अस्मै तिष्ठते अश्वाय-इव घासम्) जिस प्रकार इस स्थित/ठहरे हुये घोड़े के लिये घास [प्राप्त होता है] ।

'घस्लृ' अदने [खाना] धातु से घास शब्द बना है । घास नाम खाद्य पदार्थ अथवा अन्न का है । लौकिक भाषा में जिस पदार्थ को घास कहते हैं वह पशुओं का अन्न ही है ।

दौड़ते हुये अश्व को न घास दी जाती है, न दौड़ता हुआ अश्व घास का सेवन कर पाता है। घास का सेवन वह तब ही कर पाता है जब वह ठहरा हुआ हो ।

आत्माग्नि भी आत्मान्न—अध्यात्मान्न अथवा ब्रह्मानन्द का सेवन तब ही कर पायेगा जब वह चित्तवृत्तियों की दौड़ को निरुद्ध करके आत्म-अवस्थित, आत्मसमाहित होकर समाधि द्वारा ब्रह्म में लीन होगा ।

२) (अग्ने) आत्माग्ने ! (ते प्रति-वेशाः) तेरे प्रति-प्रवेश, तेरे [साक्षात्कार] के लिये अन्तर्मुख रहने-वाले हम (अहःअहः) दिन-दिन (अ-प्रयावम् भरन्तः) श्रेय धारण करते हुये, (रायः पोषेण) आत्मैश्वर्य के पोष से तथा (इषा) इष् से, सुखेच्छा से (सम्-मदन्तः) सम्यक् आनन्दित होते हुये (मा रिषाम) हिंसित—पीड़ित—दुःखी न हों ।

प्रति-वेशाः नाम उन साधनाशील मानवों का है जो आत्मदर्शन के लिये अन्तःप्रविष्ट अथवा अन्त-र्मुख रहते हैं । कर्तव्य कर्मों के निर्वहन के लिये वे बहिर्मुख होजाते हैं, अन्यथा वे अन्तःस्थ ही रहते हैं ।

प्रयाव नाम प्रेय का है । अप्रयाव=नहीं प्रयाव, नहीं प्रेय, श्रेय ।

इष् नाम सुखेच्छा का है । सुखेच्छा ही सर्वे-च्छाओं का मूल है ।

सतत आनन्दित रहने और सुखी होने के लिये आत्मैश्वर्य का पोषण और सुखाभिलाष अनिवार्य साधनायें हैं । आत्मैश्वर्य के पोषण के लिये अन्तर्मुख होकर प्रतिदिन आत्मना समाधिस्थ होना अनि-वार्यतः आवश्यक है तो सुखाभिलाष की पूर्ति के लिये श्रेय का संधारण नितान्त आवश्यक है । बहि-र्मुखता में आनन्द कहां और प्रेय [इन्द्रियविलास] में सुख कहां !

जैसे इस संस्थित घोड़े के लिये घास है,
ठीक वैसे ही, आत्माग्ने,
तेरे सन्दर्शन के लिये प्रतिवेश हम
दिन-दिन धारण करते हुये
सतत श्रेय और हर्षित होते हुये
आत्मैश्वर्य के सुपोष से,
सुखाभिलाष से,
हों न दुखी हम ।

५०६ नाभा पृथिव्याः समिधाने अग्नौ रायस्पोषाय बृहते हवामहे ।
इरम्मदं बृहदुक्थं यजत्रं जेतारमग्निं पृतनासु सासहिम् ॥ य ११/७६

नाभा पृथिव्याः सम्-इधाने अग्नौ रायः पोषाय बृहते हवामहे ।
इरम्-मदम् बृहत्-उक्थम् यजत्रम् जेतारम् अग्निम् पृतनासु सासहिम् ॥

पृथिवी पर हम जहां भी स्थित हैं, वहीं पृथिवी की नाभि अथवा उसका केन्द्रबिन्दु है । योग-जीवन-पद्धति की प्रस्थापनार्थ हम जहां कहीं भी साधनारत हैं वहीं अध्यात्माग्नि प्रज्वलित कररहे होते हैं और उसका एकमात्र उद्देश्य होता है आत्मैश्वर्य का विशाल—व्यापक पोषण । हमारी यह साध केवल मस्तिष्क, हृदय और इन्द्रियों के आश्रय से संसिद्ध होनेवाली नहीं है । उसके लिये तो हमें उत्कट आत्मसंबल की आवश्यकता होगी । उसके लिये हमें पग-पग पर आत्माग्नि का आह्वान करना

होगा। इसी आशय की अभिव्यक्ति के लिये यहां कहा जारहा है—

आत्मैश्वर्य के सुपोष के सुखाभिलाषी हम (पृथिव्याः नाभा) पृथिवी की नाभि में (सम्-इधाने अग्नौ) प्रज्वलित अध्यात्माग्नि में (रायः बृहते पोषाय) आत्मैश्वर्य के विशाल—व्यापक पोषण के लिये (इरम्-मदम्) इरा से ओजित होनेवाले, (बृहत्-उक्थम्) महत्-प्रशस्त, (यजत्रम्) यज्ञीय, (जेतारम्) जेता—विजेता, (पृतनासु सासहिम्) पृतनाओं में सहने—डटनेवाले (अग्निम्) आत्माग्नि को (हवामहे) पुकारते हैं।

आत्माग्नि इरा-मद है, इरा से ओजित होनेवाला है। इरा नाम उस वाणी का है जो आत्म-ओज को जगाती है।

आत्म-प्रशस्ति से आत्मा के ओज की वृद्धि होती है और आत्म-अप्रशस्ति से आत्मा का ओज क्षीण होता है। विश्व में अध्यात्म की प्रस्थापना की उत्कट साध में हमें आत्मा की सतत प्रशस्ति करते रहना चाहिये। आत्मा बृहत्-उक्थ है, महत्-प्रशस्त है। उसका अमित स्तवन किया जाना चाहिये। हम उसका जितना स्तवन करेंगे, वह उतना ही जागरित तथा ओजित रहेगा।

आत्मा यजत्र है, यज्ञीय है, पूजनीय है। महत्-प्रशस्त होने से वह निस्सन्देह पूजनीय है।

वह जेता है। अपने स्वरूप में स्थित होकर वह प्रत्येक क्षेत्र में विजय-सम्पादन करता है। आत्मा सदा विजय प्राप्त करता है, कभी पराजित नहीं होता है।

वह 'पृतनासु सासहिः' है। पृतना नाम मानव, मानवता और संग्राम का है। 'सासहिः' का अर्थ है सहनेवाला, साम्मुख्य करनेवाला, स्थिरता के साथ स्थित रहनेवाला। आत्मा ही है जो मानव-जीवन के धर्म्य, कर्म्य, अध्यात्म-संग्रामों में अन्त तक डटा रह सकता है। इन्द्रियों का स्वामी इन्द्र [आत्मा] ही है जो प्रबुद्ध होकर मानवता की रक्षा के संग्रामों में कभी कहीं च्युत नहीं होता है।

पृथिवी की नाभि में,
प्रज्वलित अग्नि में,
आत्मैश्वर्य के बृहत् पोष के लिये
हम पुकारते हैं इरामद,
महत्प्रशस्त, यजत्र विजेता,
मानवता के संघर्षों में सतत सासहि
आत्माग्नि को।

५०७ याः सेना अभीत्वरीराव्याधिनीरुगणा उत। ये स्तेना ये च तस्करास्ताँस्ते अग्ने ऽपिदधाम्यास्ये ॥

य ११/७७

याः सेनाः अभि-इत्वरीः आ-व्याधिनीः उगणाः उत। ये स्तेनाः ये च तस्कराः तान् ते अग्ने अपि-दधामि आस्ये ॥

आत्मैश्वर्य के बृहत् पोष के लिये किये जारहे मानवीय संग्रामों और संघर्षों में (अग्ने) आत्माग्ने! (याः अभि-इत्वरीः आ-व्याधिनीः उत उगणाः सेनाः) जो अभि-इत्वरी, आ-व्याधिनी और उगणा सेनायें हैं, (ये स्तेनाः च ये तस्कराः) जो स्तेन और जो तस्कर हैं, (तान् ते आस्ये अपि-दधामि) उन्हें तेरे मुख में अपि-स्थापित करता हूं।

अभीत्वरी=अभि इत्वरी। अभि=सब ओर, इधर-उधर। इत्वरी=भ्रमण करनेवाली, भटकनेवाली।

आव्याधिनी=आ+व्याधिनी। व्याधियों—रोगों का आनयन करनेवाली, कष्ट-क्लेशदायिनी।

उगणा=उग्र+गणा, विद्रोहिणी, उत्तेजना फैलानेवाली, उग्रता के साथ विनाश करनेवाली।

वासनाओं की सेनायें ही हैं जो मानव को इधर-उधर भटकाती हैं। भोगेच्छाओं की सेनायें ही हैं जो रोगों तथा कष्ट-क्लेशों का सर्जन और वर्धन करती हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार—इन पञ्च विकारों की सेनायें ही हैं जो साधक के जीवन-राज्य में उग्रता के साथ विद्रोह करती हैं और साधनासम्पदा तथा आत्मसर्वस्व को नष्ट कर देती हैं।

'शैतान' तथा 'सेटेन' [satan] वेद के स्तेन शब्द के ही रूपान्तर हैं। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में ही चेतावनी दी गयी है—'मा व स्तेन ईशत,' तुम्हें स्तेन न ईशे, तुम पर स्तेन का शासन न हो। 'स्तेन' मनस्पाप का प्रतीक है। स्तेन नाम उस चोर-वृत्ति का है, छिपी हुयी उस पापवृत्ति का है जो मनुष्य को पाप कर्म की ओर प्रवृत्त करती है।

तस्करः=तत्+करः। माया बटोरने के लिये यह कर वह कर, इसे मार उसे पछाड़—ऐसी वृत्ति का नाम तस्कर-वृत्ति है।

वासनाओं तथा विकारों की अगणित विद्रोहिणी सेनाओं का, अपि च स्तेनवृत्तियों और तस्करवृत्तियों का वशीकार तथा निराकरण तभी सम्भव होता है जब उन्हें आत्माग्नि के मुख में अपि-स्थापित, पुनः-पुनः प्रस्थापित किया जाता है। ज्ञान—तत्त्वज्ञान—विवेक ही आत्माग्नि का वह मुख है जिसमें मानव की वासनाओं, विकृतियों, स्तेन-वृत्तियों तथा तस्कर-वृत्तियों का शमन अथवा दमन होता है। और इन सेनाओं अथवा कुवृत्तियों का दहन किये बिना न ही आत्मैश्वर्यों का बृहत् पोष अथवा व्यापक पोषण होगा, न ही मानव और मानवता की रक्षा के संग्रामों में चिरस्थायी विजय सम्पादित होगी।

योग-जीवनपद्धति के सुप्रसार के लिये जन-जन इस वैदिक गीत का गान करे—

जो अभीत्वरी, आव्याधिनी
और विद्रोहिणी सेनायें,
जो स्तेन हैं, जो तस्कर हैं,
आत्माग्ने, उन्हें मैं तेरे
मुख में हूं प्रस्थापित करता।

५०८ दंष्ट्राभ्यां मलिम्लूञ्जम्भ्यैस्तस्करौं उत। हनुभ्यां स्तेनान् भगवस्तांस्त्वं खाद सुखादितान्॥
य ११/७८

दंष्ट्राभ्याम् मलिम्लून् जम्भ्यैः तस्करान् उत। हनुभ्याम् स्तेनान् भगवः तान् त्वम् खाद सु-खादितान्॥

सब काल में, सब देशों में, सब समाजों में ऐसे असामाजिक तत्त्व सदैव होते ही हैं जो समाज-सुधारकों, ज्ञानियों, योग-जीवनपद्धति-विस्तारकों, अध्यात्मप्रसारकों का न केवल घोर विरोध करते हैं, अपि तु उनकी जान के ग्राहक बन जाते हैं और समाज में विकार तथा विष फैलाते हैं।

पर-पदार्थों का हरण करके सुख से [मज़े के साथ] उनका सेवन करनेवाले होने से यहां तस्करों और चोरों को 'सुखादित' कहा गया है। सुखादित तस्कर और स्तेन इतने मलिनाचारी होते हैं कि उन्हें न धर्म-अधर्म का विचार होता है न पाप-पुण्य का, उन्हें न उचितानुचित का ध्यान होता है न न्याय-अन्याय का, न उन पर किसी के उपदेश का प्रभाव पड़ता है न किसी के सौजन्य का, न वे आत्म-अनात्म की परवाह करते हैं न मानवता और दानवता की। वे उन काले तवों के समान होते हैं जो सूर्य की किरणों से गरम होते हैं किन्तु चमकते नहीं हैं। ऐसे 'असुर्य आत्महन जनों' का एक मात्र इलाज कठोर दण्ड है। शिक्षा, प्रेरणा, साधना, उपदेश, चेतावनी, दण्ड—ये छह उपाय ही हैं सामाजिक सुव्यवस्था के। सुखादित तस्कर और स्तेन जब किसी भी उपाय से समाज

में विकार और विष फैलाने से बाज़ नहीं आते हैं तब उन्हें कठोर दण्ड अथवा मृत्यु-दण्ड देकर सामाजिक जीवन को निष्कण्टक बनाया जाता है।

दण्डव्यवस्था शासन-सत्ता का कार्य है। न्याय-विभाग के दो संस्थान होते हैं—साम्पत्तिक [दीवानी, माल] और अपराधवर्जक [फ़ौजदारी]। अपराधवर्जक विभाग जितना सुदृढ़ और कठोर होता है, सामाजिक व्यवस्था उतनी ही स्वस्थ और स्वच्छ होती है और समाजसेवियों के लिये वातावरण उतना ही सुकर रहता है। भगवः शब्द का प्रयोग यहां उस सर्वोच्च दण्डाधिकारी के लिये हुआ है जिसने मन्त्र ८१ में अपने आपको 'पुरोहित' कहा है। शासन-सत्ता द्वारा नियुक्त उस दण्डाधिकारी के प्रति, न्यायाधिकार अर्पित करते हुये, शासन की ओर से कहा जारहा है—(भगवः) भगवन्! (तान् मलिम्लून् सु-खादितान् तस्करान् उत स्तेनान्) उन मलिनाचारी सुखादित तस्करों और चोरों को (त्वम्) तू (दंष्ट्राभ्याम्) दाढ़ों से, (जम्भ्यैः) दन्तपंक्तियों—जबाड़ों से, (हनुभ्याम्) ठोड़ियों से (खाद) खा।

भगवान् दण्डाधिकारी की दाढ़ें हैं न्याय और व्यवस्था। उसके जम्भ्य—जबाड़े हैं दण्डकर्मचारी। उसकी ठोड़ियां [दो ठोड़ी-फलक] हैं सामाजिक अहिंसा और निर्भयता। समाज को सुखादित तस्करों और स्तेनों से मुक्त करके उसे निरापद बनाना ही भगवान् दण्डाधिकारी द्वारा उनका खाया जाना है। ऐसे सुखादित तत्त्वों से मुक्त समाज में ही आध्यात्मिकता तथा नैतिकता की बेलें फूलती-फलती हैं।

भगवन्, उन मलिनाचारी और सुखादित
तस्करों और स्तेनों को तू
खा दाढ़ों, जबाड़ों और ठोड़ियों से।

५०९. ये जनेषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने। ये कक्षेष्वघायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयोः॥
य ११/७९

ये जनेषु मलिम्लवः स्तेनासः तस्कराः वने। ये कक्षेषु अघ-यवः तान् ते दधामि जम्भयोः॥

भगवान् दण्डाधिकारी के प्रति शासन की ओर से अधिकारोक्ति को जारी रखते हुये पुनः कहा जा रहा है—भगवन्! (जनेषु) जनों में, (वने) वन में (ये मलिम्लवः स्तेनासः तस्कराः) जो मलिनाचारी, स्तेन और तस्कर हैं, (कक्षेषु) कक्षों—पार्श्वों में (ये अघ-यवः) जो पापेच्छु हैं, (तान् ते जम्भयोः) उन्हें तेरे [दो] जबाड़ों में (दधामि) रखता हूं।

'जम्भयोः' से यहां तात्पर्य दमन और दण्ड रूपी जबाड़ों से है। जनता के मध्य में निवास करनेवाले, अपराध करके जंगल में छिपनेवाले, इधर-उधर पार्श्वों में बिखरे हुये पापेच्छापूर्वक वर्तनेवाले, जितने भी अवाञ्छनीय असामाजिक तत्त्व हैं, स्तेन और तस्कर हैं, उन सबका दमन करना और अपराध अथवा पापाचार करने पर उन्हें कठोर दण्ड देना भगवान् दण्डाधिकारी का सर्वतन्त्र स्वतन्त्र अधिकार है। उच्छृङ्खलों का दमन और अपराधियों का प्रताड़न तथा हनन—ये दो दण्डाधिकारी के वे पुनीत कर्तव्य हैं जिनके आश्रय से मानवसमाज में उस शुद्ध वातावरण का सम्पादन होता है जिसमें आध्यात्मिकता तथा नैतिकता पनपती है।

जनों में, वन में जो मलिम्लु
तस्कर और स्तेन,
कक्षों में जो पापेच्छु
रखता हूं मैं उन्हें तेरे जम्भों में।

५१० यो अस्मभ्यमरातीयाद् यश्च नो द्वेषते जनः ।
निन्दाद् यो अस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा कुरु ॥ य ११/८०

यः अस्मभ्यम् अराति-यात् यः च नः द्वेषते जनः ।
निन्दात् यः अस्मान् धिप्सात् च सर्वम् तम् मस्मसा कुरु ॥

यहां इस मन्त्र में भगवान् दण्डाधिकारी के प्रति सर्व जनों की ओर से सम्बोधन है—भगवन्! (यः जनः) जो जन, जो जनसमाज (अस्मभ्यम् अराति-यात्) हमारे प्रति शत्रुता करे (च) और (यः) जो [जन, जनसमूह] (नः) हमारे प्रति (द्वेषते) द्वेष करता है, (निन्दात्) [हमारी] निन्दा करे (च) और (यः अस्मान् धिप्सात्) जो हमें धिप्से-दम्भे-छले-ठगे-धोखा दे—(तम् सर्वम्) उस सब [शत्रुता, द्वेष, निन्दा, धिप्सा] को (मस्मसा कुरु) भस्म कर ।

भगवान् दण्डाधिकारी का कर्तव्य दण्ड देने तक सीमित न होकर, अपराधियों का नैतिक सुधार भी है। निर्धनों और अभावग्रस्तों से कहीं अधिक अपराध धनी और पढ़े-लिखे जन करते हैं। कारागृहों के वातावरण को शोधने और उनमें सुशिक्षा तथा सदुपदेशों की व्यवस्था करने से इस दिशा में पर्याप्त सफलता प्राप्त होती है। जेलों का वातावरण स्वच्छ और सात्त्विक होने से अपराधियों के सत्त्व की शुद्धि होती है।

न्याय्य और स्वस्थ समाजव्यवस्था तथा सुपूत सामाजिक वातावरण भी अपराध-निरोध में पर्याप्त सहायक होते हैं। प्रत्येक रोग के कुछ कारण होते हैं। कारणों का निराकरण करने पर ही रोग का निर्मूलन होता है। समाज को अपराधमुक्त रखने के लिये समाज से अपराधों के कारण को निर्मूल करना होता है।

अन्न के अभाव, बेकारी तथा सामाजिक असमता और विषमता के कारण भी कथित अपराध होते हैं। आजीविका के साधनों के निकृष्ट होने से भी अपराधवृद्धि होती है। 'जैसा खाये अन्न वैसा बने मन,' यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है।

इन सब तथ्यों को दृष्टि में रखते हुये ही दण्डाधिकारी को दण्डव्यवस्था प्रस्थापित करनी चाहिये।

जो जन करे शत्रुता हमसे,
और जो हमसे द्वेष करे,
निन्दा करे, और जो हमको
धिप्से—दम्भे—छले—ठगे,
उस सबको तू करदे भस्म ।

५११ संशितं मे ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम् । संशितं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहितः ॥
य ११/८१

सम्-शितम् मे ब्रह्म सम्-शितम् वीर्यम् बलम् । सम्-शितम् क्षत्रम् जिष्णु यस्य अहम् अस्मि पुरः-हितः ॥

इस और अगले मन्त्र से भगवान् दण्डाधिकारी न्यायानुमोदित दण्ड की स्थापना की शपथ ग्रहण करता है—

१) (मे ब्रह्म) मेरा ब्रह्म (संशितम्) प्रशस्त, सुतीक्ष्ण है, (वीर्यम् बलम्) पराक्रम, बल (संशितम्) प्रशस्त-सुतीक्ष्ण है।

ब्रह्म शब्द का प्रयोग यहां आत्म-प्रचेतना अथवा विवेक के अर्थ में हुआ है। दण्डाधिकारी न केवल उग्र पराक्रम तथा बल से ही युक्त हो, उसे आत्म-प्रचेतना तथा विवेक से भी सम्पन्न होना चाहिये। सुतीक्ष्ण पराक्रम तथा बल से जहां वह अपराध और अपराधियों की दृढ़ता के साथ रोक-थाम

करेगा, वहां वह आत्मप्रचेतना तथा प्रशस्त विवेक के आश्रय से सबके प्रति सदा न्याय ही करेगा। दण्डाधिकारी का कार्य दण्ड देना ही नहीं है, अपराधों की रोक-थाम करना भी है।

प्रखर न्याय से विभूषित, निष्पक्ष और कठोर दण्ड ही है जो शासन और शासित को कर्तव्य-निष्ठ, धर्मपरायण तथा अध्यात्मसम्पन्न बनाये रखता है।

२) (अहम्) मैं (यस्य पुरोहितः अस्मि) जिस [शासनसत्ता] का पुरोहित हूं, उसका (क्षत्रम् संशितम् जिष्णु) क्षत्र प्रशस्त-सुतीक्ष्ण तथा जयी [होगा]।

पुरः-हित=पुरोहितः। पुरः=सामने, अग्र। हितः=रखा हुआ, स्थित, उपस्थित। पुरोहित शब्द का प्रयोग यहां उस दण्डाधिकारी के लिये हुआ है जो न्याय तथा दण्ड-चक्र के घुमाने में सदा सर्वदा सर्वाग्र उपस्थित तथा उद्यत रहता है। इस प्रकार का पुरोहित जिस शासन के मूर्धा पर आसीन होगा, उस शासन का क्षत्र [राज्य, साम्राज्य] निश्चय ही प्रशस्त तथा सुतीक्ष्ण, निर्बाध और शीघ्रकारी होगा। उसी न्यायानुशासित शासन का राष्ट्र प्रत्येक दिशा, क्षेत्र और पार्श्व में तीव्रता तथा प्रशस्तता के साथ जय-विजय, सफलता—साफल्य प्राप्त करता है।

संशित मेरा ब्रह्म,
वीर्य बल मेरा संशित
उसका क्षत्र जयी और संशित,
जिसका मैं हूं पुरोहित।
सूक्ति—संशितं मे ब्रह्म।
मेरा विवेक प्रशस्त—प्रखर है।

५१२ उदेषां बाहू अतिरमुद् वर्चो अथो बलम्। क्षिणोमि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वाँ अहम्॥
य ११/८२

उत् एषाम् बाहू अतिरम् उत् वर्चः अथो बलम्। क्षिणोमि ब्रह्मणा अमित्रान् उत्-नयामि स्वान् अहम्॥

१) मैंने (एषाम्) इनके/इन स्तेनों, तस्करों, जन-द्वेषियों, जनशत्रुओं के (बाहू) बाहुओं को (उत् अतिरम्) अतिक्रमण किया है, (वर्चः अथो बलम् उत् अतिरम्) तेज और बल को अतिक्रमित किया है।

भगवान् दण्डाधिकारी बाहु, तेज तथा बल में उपर्युक्त असामाजिक तत्त्वों से कहीं बढ़कर होना चाहिये। वह उन्हें रंगे हाथों पकड़ने-पकड़वाने की क्षमता रखता हो। उनका मुक़ाबला करके उन्हें बन्दी बनाने की उसमें शक्ति हो। वह इतना तेजस्वी हो कि अपराधेच्छु उसे देखते ही आतंकित होजायें। उसका बल इतना प्रबल हो कि वह कभी कहीं दबने न पाये।

२) (अहम्) मैं (ब्रह्मणा) आत्मप्रचेतना/विवेक द्वारा (अमित्रान् क्षिणोमि) अमित्रों/शत्रुओं को क्षीण करता हूं, (स्वान् उत्-नयामि) अपनों को उन्नत करता हूं/ऊंचा उठाता हूं।

अमित्र शब्द का प्रयोग समाज के शत्रुओं अथवा घातकों के लिये हुआ है। जिनकी गतिविधियां समाज के आचार, विचार और व्यवहार को मलिन तथा सामाजिक व्यवस्था और शान्ति को भंग करती हैं वे समाज के मित्र नहीं, अमित्र हैं, शत्रु हैं। जिनकी गतिविधियों से समाज का शोधन, बोधन होता है और सामाजिक शान्ति तथा व्यवस्था की रक्षा होती है वे समाज के अपने हैं, मित्र हैं। समाज के हित में दण्डाधिकारी का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह समाज के अमित्रों—शत्रुओं की शक्ति और संगठन को सर्वथा क्षीण करके उन्हें प्रतिबन्धित करे और समाज के अपनों—मित्रों की सर्वतः उन्नति करके उन्हें सम्मानित तथा निर्भय करे। जिस समाज में शत्रुओं का दमन और मित्रों का संवर्धन होता है, उसी समाज में

नैतिकता तथा आध्यात्मिकता का विकास होता है।

मैंने इनके बाहुओं को
अतिक्रमण किया हुआ है,
इनके तेज और बल को भी
अतिक्रमित किया हुआ है।

मैं विवेक से
क्षीण अमित्रों को करता हूं,
उन्नत करता हूं अपनों को।
सूक्ति—उन्नयामि स्वाँ अहम्।
मैं अपनों को ऊंचा उठाता हूं।

५१३ अन्नपते ऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्रप्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ य ११/८३
अन्न-पते अन्नस्य नः देहि अन्-अमीवस्य शुष्मिणः।
प्र-प्र दातारम् तारिषः ऊर्जम् नः धेहि द्वि-पदे चतुःपदे ॥

भूख सब पापों और अपराधों का मूल है। 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।' अभाव भूख का संगाती है। भूख और अभाव से पीड़ित मानव अनेक पाप और अपराध करते हैं। पेट ही सुख और साधना का मूल है। भूखा क्या भजन करेगा, क्या योगसाधना करेगा, क्या अपना योगयुक्त जीवन बनायेगा! अतः योग-जीवनपद्धति के प्रचारक और प्रसारक प्रभु से सर्वार्थ अन्न की प्रार्थना करते हैं—

१) (अन्न-पते)!
२) (नः) हमारे लिये, हम सबके लिये (अन्-अमीवस्य शुष्मिणः अन्नस्य) नीरोगताप्रद बलकारक अन्न का (देहि) दान कर।
३) (दातारम् प्र-प्र तारिषः) दाता—अन्नदानी को प्रकृष्टतया—प्रचुरतया बढ़ा।
४) (नः) हमारे (द्वि-पदे) दोपाये/मानवसमाज के लिये, (चतुःपदे) चौपाये/अश्व, गौ, आदि पशुसमूह के लिये (ऊर्जम्) बल, स्फुरण, पराक्रम, ओज (धेहि) धारण—प्रदान कर।

योग-जीवनपद्धति में अन्न का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चित्त, मन, बुद्धि और शरीर का अस्तित्व अन्न से ही है। जैसा अन्न वैसा ही मन, वैसा ही चित्त, वैसी ही बुद्धि और वैसा ही शरीर। आहार की शुद्धि से शरीरसत्त्व, चित्तसत्त्व, मनस्सत्त्व तथा बुद्धिसत्त्व की शुद्धि होती है। सत्त्वचतुष्टय की शुद्धि से मानवप्रजा में नीरोगता और बल की वृद्धि होती है। तब ही मानवसमाज में योग-जीवनपद्धति का सतत विकास होता है।

भूख से पीड़ित को जो अन्न देता है, अन्नपति परमात्मा उसके अन्न और ऐश्वर्य का प्रकृष्टतया और प्रचुरतया संवर्धन करता है। जो भूखे को खिलाता है और नंगे को पहनाता है, उसे आत्माशिषें प्राप्त होती हैं। आत्माशिषों के प्रभाव से परमात्मा अन्नवस्त्रदानी से प्रसन्न होकर उसके धर्म और धन की अधिकाधिक वृद्धि करता है।

मानवों का अन्न ही नहीं, सामाजिक पशुओं का अन्न भी बल-स्फूर्तिदायक होना चाहिये। सामाजिक पशुओं का खाद्य जब सत्त्वशोधक, स्वास्थ्यप्रद और बलकारक होता है तो दुधारु पशुओं का दुग्ध ऊर्जोदा होता है और अश्व, बैल, आदि पशु अधिकाधिक सम्पदा तथा सेवा का सम्पादन करते हैं।

अन्नपते,
दे अन्न हमारे लिये
स्वास्थ्यप्रद और बलकारक।
बढ़ा प्र-प्र अन्नदानी को,
प्रस्थापन कर हमारे दोपाये
चौपाये के लिये बल और स्फूर्ति।
सूक्ति—ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे।
हमारे मानव और पशु के लिये स्फूर्तिमय बल प्रदान कर।

'विदेह'–रचित संस्थान-प्रकाशन

वेदव्याख्या-ग्रन्थ (प्रतिपुष्प एक अध्याय के क्रम से, यजुर्वेद की क्रमिक व्याख्या)

१. प्रथम पुष्प (द्वितीय संस्करण) — दो रुपये
२. द्वितीय पुष्प (द्वितीय „) — डेढ़ रुपये
३. तृतीय पुष्प (द्वितीय „) — सवा दो रुपये
४. चतुर्थ पुष्प — एक रुपया
५. पञ्चम पुष्प — डेढ़ रुपये
६. षष्ठ पुष्प — एक रुपया
७. सप्तम पुष्प — डेढ़ रुपये
८. अष्टम पुष्प — डेढ़ रुपये
९. नवम पुष्प — एक रुपया
१०. दशम पुष्प — एक रुपया
११. एकादश पुष्प — सवा रुपया

योग-ग्रन्थमाला

१. साधना (तृतीय सं०) — एक रुपया
२. स्वास्थ्य और सौन्दर्य (चतुर्थ सं०) — ५० पैसे
३. वैदिक योग-पद्धति (तृतीय सं०) — ४० पैसे
४. सन्ध्या योग (तृतीय सं०) — ३० पैसे
५. गायत्री मन्त्र का अनुष्ठान (तृतीय सं०) — २० पैसे
६. महामृत्युञ्जय-मन्त्र का अनुष्ठान (द्वितीय सं०) — २५ पैसे
७. योग-तरङ्ग (द्वितीय सं०) — २० पैसे
८. शिव-संङ्कल्प — ३० पैसे
९. वैदिक साधना — ५० पैसे

भक्ति-ग्रन्थमाला

१. गायत्री (चतुर्थ सं०) — एक रुपया
२. विदेह-गीतावली (द्वितीय सं०) — ४० पैसे
३. आनन्द-सुधा (द्वितीय सं०) — ४० पैसे
४. जीवन-पाथेय — ५० पैसे

चरित-ग्रन्थमाला

१. रामचरित — डेढ़ रुपये
२. दयानन्द चरितामृत — एक रुपया
३. जीवन-ज्योतियां (तृतीय सं०) — ४० पैसे

शिक्षा-ग्रन्थमाला

१. वैदिक बालशिक्षा, प्रथम भाग [illegible]
(
२. „ „ द्वितीय भा[illegible]
(
३. „ „ तृतीय भाग ([illegible]
४. वैदिक स्त्री-शिक्षा (द्वितीय सं०) — ३० पैसे
५. संस्कृत-शिक्षा, प्रथम भाग (तृतीय सं०) — २० पैसे
६. „ द्वितीय भाग ([illegible]) — [illegible] पैसे
७. संस्कृत-स्वयं-शिक्षक, प्रथम पु[illegible] (द्वितीय [illegible]) — [illegible] पैसे
८. „ द्वितीय पु[illegible] (किशोरीलाल गुप्त) — ७० पैसे

कर्मकाण्ड-ग्रन्थमाला

१. स्वस्ति-याग (तृतीय सं०) — ८० पैसे
२. सत्यनारायण की कथा (चतुर्थ सं०) — ३० पैसे
३. वैदिक सत्सङ्ग (पंचम सं०) — ३० पैसे
४. विजय-याग (द्वितीय सं०) — ५० पैसे

मिश्रित-ग्रन्थमाला

१. सार्वभौम आर्य साम्राज्य (द्वितीय सं०) — ५० पैसे
२. यज्ञोपवीत-रहस्य (चतुर्थ सं०) — ६ पैसे
३. उत्तम स्वभाव (तृतीय सं०) — २० पैसे
४. मानव-धर्म (द्वितीय सं०) — २० पैसे
५. चरित्र-निर्माण (द्वितीय सं०) — २० पैसे
६. गृहस्थाश्रम (द्वितीय सं०) — ५० पैसे
७. भारत के अध्यापकों से (द्वितीय सं०) — ३० पैसे
८. भारत के विद्यार्थियों से (द्वितीय सं०) — ३० पैसे

English-Laksh[illegible] [illegible]edic Series

1. The Vedic Pra[illegible] — Rs 2/-
2. The Exposition of the Vedas — Rs 4/-

'सविता' की जिल्दें : प्रतिजिल्द : वर्ष ४,५, ८-१०,१५-१९ : रु. ३.२५; वर्ष २०, २१ : रु. ५.२५

वेद-संस्थान, बाबू मोहल्ला, अजमेर (भारत)